स्वातंत्रयोत्तर हिन्दी उपन्यास और दलित समाज
'दलित केन्द्रित उपन्यासों के विशेष संदर्भ में'

पी. एच. डी. (हिन्दी) उपाधि हेतु

प्रस्तुत शोध प्रबंध

शोध निर्देशक

डा. पुरुषोत्तम अग्रवाल

शोध कर्ता

सुजीत कुमार

भारतीय भाषा केन्द्र, भाषा, साहित्य एवं
संस्कृति अध्ययन संस्थान

जवाहर लाल नेहरु विश्वविद्यालय
नई दिल्ली – 110067

2002

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
School of Language, Literature & Culture Studies
New Delhi-110067

Centre of Indian languages

Dated: 19 July 2002

DECLARATION

I declare that the material in this thesis entitled "SWATANTRAYOTTER HINDI UPANYAS AUR DALIT SAMAJ: DALIT KENDRIT UPANAYASON KE VISHESH SANDARBH ME" submitted by me is original work and has not been previously submitted for any other degree of this or any other University /Institution.

SUJEET KUMAR
Name of the Scholar

DR. PURUSHOTTAM AGGRAWAL
(SUPERVISOR)
CIL/ SLL & CS/JNU

PROF. MANAGER PANDEY
(CHAIRPERSON)
CIL/ SLL & CS/JNU

GRAM : JAYENU TEL.: 6107676, 6167557TELEX : 031-73167 JNU IN FAX : 91-011-6865886

अनुक्रम

		पृष्ठ सं.
प्राक्थन		i-vi
पहला अध्याय :–		
	नवजागरण, उपन्यास और दलित समाज	1–34
1.	दलित हरिजन और अछूतः परिभाषा की समस्याएं	1–16
2.	नवजागरण का सामाजिक आधार और सांस्कृतिक आग्रह	16–22
3.	हिन्दी क्षेत्र में नवजागरणः एक विहग अवलोकन	23–29
4.	उपन्यास का उदय और सामाजिक प्रश्न	30–34
दूसरा अध्याय :–		
	प्रेमचन्द युगीन हिन्दी उपन्यास और दलित समाज	**35–68**
1.	सामाजिक राजनैतिक विमर्श में दलित	35–41
2.	हिन्दी क्षेत्र में दलित आत्म चेतना	41–47
3.	प्रेमचन्द के लेखन में दलित	47–55
4.	अन्य उपन्यासकार और दलित	55–68
तीसरा अध्याय :–		
	दलित चेतना के परिप्रेक्ष्य में प्रमुख स्वातंत्रयोत्तर उपन्यास : यथार्थ बोध, शिल्प और भाषा	**69–105**
1.	भूमि के स्वामित्व का सवाल : धरती धन न अपना	69–76
2.	दलित वर्ग के राजनैतिक चेतना के बृहत्तर आयाम : एक टुकड़ा इतिहास	76–82
3.	दलित चेतना का समाजशास्त्रीय अध्ययन : नाच्यौ बहुत गोपाल	82–89
4.	आरक्षण का सवाल : परिशिष्ट	89–96
5.	बौद्धिक बिरादरी और सरकारी तंत्र : किस्सा गुलाम और यथाप्रस्तावित	96–105

चौथा अध्याय :–

स्वातंत्रयोत्तर हिन्दी उपन्यासों में दलित संस्कृति	**106–135**
1. रीति –रिवाज	111–117
2. स्त्री – पुरुष संबंध	117–124
3. धार्मिक अंधविश्वास और मान्यताएं	124–135

पाँचवा अध्याय :–

स्वातंत्रयोत्तर हिन्दी उपन्यासः दलित आत्म चेतना और सौन्दर्यशास्त्र		**136–171**
1.	दलित कथा साहित्य	136–152
2.	दलित आत्म कथा	152–161
3.	परम्परा के मूल्यांकन का दलित दृष्टिकोण	161–164
4.	दलित साहित्य और सौन्दर्यशास्त्र	165–171

छठा अध्याय :–

उपसंहार	**172–177**
संदर्भ सूची	**178–185**

प्राक्थन

साहित्य और समाज की स्थिति स्वतंत्रता से पूर्व हो या स्वतंत्रता के बाद, यह संबंध दिनों दिन गाढ़ा होता जा रहा है । नई स्थिति जन्म लेती है और उसके अनुरूप समाज में परिवर्तन होता है, साथ ही साहित्य भी उन भावनाओं को शब्दों में पिरोती चलती रहती है । आधुनिक समय खासकर स्वतंत्रता के बाद की सामाजिक स्थिति में कई परिवर्तन हुए जिसमें सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन महत्वपूर्ण हैं । संविधान में कई ऐसे तत्वों का समावेश किया गया जो पहले सामाजिक व्यवहार में नहीं थे । ऐसे में दलित समाज को भारतीय समाज में अपना स्थान बनाने का अनुकूल वातावरण मिला । समाज में दबे, कुचले, अछूत कही जाने वाली जातियों में शिक्षा एवं मानवीय अधिकार को लेकर जागृति आई । अपने आप को सामाजिक धारा में बनाए रखने के लिए संघर्ष भी किए एवं संवैधानिक अधिकारों के प्रति सतर्क भी रहे । इसका परिणाम यह हुआ कि जो क्षेत्र सबसे अछूता था उसमें भी दस्तक दी ।

दलित साहित्य समाज के उन वर्गों की संवेदनाओं को आँचल में समेटा जिन्हें सामाजिक एवं सांस्कृतिक रूप से अछूत समझकर दर किनार कर दिया गया था । इस साहित्य ने अपने आत्मानुभव को ज्यादा स्थान दिया अर्थात जिसको अपने जीवन में भोगा उसी को साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्त किया । इससे हिन्दी साहित्य में ही नहीं बल्कि अन्य भारतीय भाषाओं में शिथिल पड़ते साहित्य को गति मिली । अन्यथा हिन्दी साहित्य एक फ्रेम में बंधकर रह गया था । कुछ लेखक इस फ्रेम को तोड़कर आगे आए लेकिन ईमानदारी और पूर्वाग्रह के अभाव में इन वर्गों के प्रति न्याय नहीं कर सके । दलित साहित्य ने समाज के उन वर्गों एवं जातियों को प्रतिनिधित्व प्रदान किया जिनका केवल रूप और आकार मानव जैसा था पर उसके साथ व्यवहार जानवरों से भी बदतर था । आज दलित साहित्य अपने मुकाम की ओर अग्रसर है । साहित्य की सभी विधाओं में अपना वर्चस्व बनाने में संघर्षरत है ।

बीसवीं सदी बीत गई, स्वतंत्रता मिले पचपन वर्ष हो गए – फिर भी अतीत अतीत ही रहा। क्योंकि एक के लिए वह स्वर्णकाल था तो दूसरे के लिए वीभत्स और अमानवीय मूल्यों का गढ़ । कोई भी इसे विस्मृत करना नहीं चाहता – अगर एक वर्ग चाहता है तो उसे करने नहीं दिया जाता। एक वर्ग जहां जातिवाद का किसी न किसी रूप में आज भी सामना कर रहा है तो दूसरा वर्ग अपनी मानसिकता बदलना नहीं चाहता। क्योंकि सारी कमियां तो दलितों में हैं, इसलिए

अगर किसी का सुधार करना है तो वे दलित हैं? यह मानसिकता अपने आप में खतरनाक है। इससे मुक्त होना है, जो देश और समाज के लिए हितकार होगा। वर्तमान और भविष्य को हम अतीत से निर्धारित करते हैं। नकल के आदी हो चुके हम 21वीं सदी में धूम – धड़ाके के साथ संभावनाओं एवं कल्पनाओं के रथपर सवार हो गए, लेकिन अतीत से पीछा नहीं छुड़ा सके। जातिय अस्मिता और साम्प्रदायिकता का जहर घटने के बजाय बढ़ता ही जा रहा है। गुजरात तो मात्र आगाज हैं। ऐसे में भविष्य की संभावनाएं धूमिल नजर आती हैं ।

वैश्वीकरण आना पैर पसार चुका हैं। आर्थिक गुलामी का रास्ता साफ हो गया है, क्योंकि हम अपने संसाधन विकसित करने के बजाय उनके संसाधनों पर निर्भर होते जा रहे हैं । ऐसे में साहित्य का दायित्व बढ़ जाता है, क्योंकि दलित वर्ग ही सदियों की तरह इसमें पिस जाएंगे। जिस तरह से सरकारी संस्थान/उपक्रम को निजी क्षेत्रों में बेचा जा रहा हैं, इस स्थिति में अपनी स्थिति कमजोर न हो साहित्यकारों एवं समाज सेवकों ने इन क्षेत्रों में भी अपने प्रतिनिधित्व को लेकर आवाज उठाने लगे हैं ।

ऐसे समय में दलित समाज और उनकी समस्याओं तथा संघर्ष चेतना की उठती लहर को स्वातंत्रयोत्तर हिन्दी उपन्यासों में देखने का प्रयास किया है। मैने अपने शोध के लिए मुख्यतः स्वातंत्रयोत्तर हिन्दी उपन्यासों विशेषकर दलित केन्द्रित उपन्यासों को आधार सामग्री के रूप में चुना है । लेकिन इसके साथ – साथ स्वतंत्रता पूर्व और स्वतंत्रता के बाद के उपन्यासों में आए दलित समाज को भी ध्यान में रखा है । साथ ही दलित साहित्य में अब तक जो कुछ लिखा गया है, अध्ययन सामग्री का आधार बना । दलित जीवन के विभिन्न पहलुओं का चित्रण इस विशाल कथा साहित्य में हुआ हैं । लेकिन मुख्य कथा वस्तु 'दलित चेतना ' को नागर जी के 'नाच्यौ बहुत गोपाल' गोपाल उपाध्याय के 'एक टकड़ा इतिहास' , गिरिराज किशोर के 'परिशिष्ट' और 'यथा प्रस्तावित ', रमेशचन्द शाह के 'किस्सा गुलाम' तथा जगदीश चन्द के 'धरती धन न अपना' , 'नरक कुण्ड में बास' व ' कभी न छोड़े खेत' में देखी जा सकती हैं। हिन्दी क्षेत्र में फैली दलित जन संवेदना और समाज को इन उपन्यासों और दलित साहित्य के द्वारा तुलनात्मक अब से समझा गया हैं।

मैने अपने शोध को छः अध्यायों में वर्गीकृत किया है। जिसमें दलित केन्द्रित उपन्यासों के साथ साथ अन्य उपन्यासों में आए दलित समाज को समझने का प्रयास किया गया है । साथ ही मुख्य उद्देश्य का महत्व प्रतिपदित हो सके, इसका विशेष ध्यान रखा गया है ।

पहला अध्याय ऐतिहासिक पृष्ठिभूमि को समेटे हुए है जिसमें दलितों की सामाजिक एवं ऐतिहासिक पृष्ठिभूमि, नवजागरण और दलित चेतना का विकास तथा इससे हिन्दी क्षेत्र में आए परिवर्तन एवं साहित्य में दलित उपस्थिति को चित्रित किया गया है ।

प्राचीन सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक शोषण तंत्र के आलोक में अंत्यजो, शूद्रों, अतिशूदों, अछूतों की उत्पत्ति तथा किस तरह समाज ने उन्हें अस्पृश्य धोषित कर दिया का विवेचन किया गया हैं । कल का अछूत सभी शब्दावालियों को ठुकराकर आज अपने को 'दलित' कहता है । गाँधी का 'हरिजन' भी उन्हें स्वीकार नहीं है। अछूत से दलित बनने की प्रक्रिया की विस्तार से चर्चा विभिन्न आन्दोलनों के परिप्रेक्ष्य में की गई है।

नवजागरण क्या सही अर्थो में नवजागरण था या मात्र हिन्दू नवजागरण इसके सामाजिक और सांस्कृतिक पहलुओं का विभिन्न समाजसुधार आन्दोलनों के सदंर्भ में अध्ययन और विवेचन किया गया है। राष्ट्रीय नवजागरण के विशेष संदर्भ में हिन्दी क्षेत्र में नवजागरण की पृष्ठिभूमि भारतेन्दु मण्डल और महावीर प्रसार द्विवेदी के योगदान की विस्तृत चर्चा की गई है। हिन्दी क्षेत्र का नवजागरण सामाजिक कम, साहित्यिक आंदोलन था। इसपर बंगला और मराठी साहित्य के प्रभाव को भी देखा गया है।

हिन्दी क्षेत्र में विकसित राष्ट्रीय चेतना और उससे साहित्य में आए – विशेषकर हिन्दी उपन्यास के उदय को सामाजिक संदर्भ में देखा गया हैं । उपन्यास अपने उदय के समय से दलित समाज की समस्याओं से किस तरह रूबरू हुआ और लेखकों की दृष्टि का मूल्यांकन किया गया है ।

दूसरा अध्याय प्रेमचन्द युग से संबंधित है। वे उपन्यास को मनोरंजन से उठाकर यथार्थ भूमि पर लाए । अर्थात प्रेमचन्द ने समाज के विभिन्न वर्गों की आवाज को राष्ट्रीय संदर्भ में उठाया लेकिन उनकी परम्परा का निर्वाह क्यों नहीं हो सका, इसके विभिन्न पहलुओं को देखा गया है।

प्रेमचन्द युगीन सामाजिक, राजनैतिक विमर्श मे दलित उपस्थिति को फुले, अम्बेडकर, पेरियार, गाँधी के विशेष संदर्भ में समझने की कोशिश की गई है। डा. अम्बेडकर द्वारा मनुस्मृति को जलना तथा उसका दलित समाज पर पड़े क्रांतिकारी प्रभाव का मुल्यांकन हुआ है। मानवाधिकार के प्रश्न को दलित चेतना और जागृति के रुप में देखा गया है।

विभिन्न आन्दोलनों के परिणाम स्वरुप हिन्दी क्षेत्र में जागृति आई। इससे दलित समाज भी प्रभावित हुआ। उनमें संघर्ष चेतना विकसित हुई। हीराडोम द्वारा ईश्वर को दी गई चुनौती और उन जैसे क्रांतिकारी दलित लेखकों की अनुपस्थिति को भी समझने का प्रयास किया गया है। साथ ही यह भी देखने का प्रयास किया गया है कि हिन्दी क्षेत्र में दलित आत्मचेतना क्यों नहीं विकसित हो सकी?

प्रेमचन्द अपने आप में पूरा एक युग थे। उन्होंने ही प्रथमतः दलित जन समुदाय की पीड़ा और दीन–हीन दशा को समग्रता में चित्रित किया है। वे शोषण की पोल खोलते हुए समाज पर व्यंग करते हैं, तथा इस सामाजिक व्यवस्था से सिर्फ असंतुष्ट नहीं थे, बल्कि अपनी आत्मा की समस्त शक्ति के साथ घृणा करते थे। इसका अध्ययन उनकी विभिन्न कृतियों के आधार पर किया गया है।

प्रेमचन्द का प्रभाव समाज और साहित्य दोनों पर पड़ा। इसको उस युग विभिन्न उपन्यासों के माध्यम से दलित उपस्थिति और लेखकों की दृष्टि की पड़ताल की गई है।

तीसरा अध्याय दलित केन्द्रित उपन्यासों के आधार पर दलित समाज में आई दलित चेतना और संघर्ष के विभिनन पहलुओं से जुड़ा हुआ है। इसके अर्न्तगत लेखकीय ईमानदारी, पूर्वाग्रह, सीमा और उपलब्धियों का मुलयांकन दलित संदर्भ में किया गया है।

भूमि का व्यक्ति के जीवन में (भूमिहीन के लिए) क्या महत्व है? भूमि से जुड़ी मान–मर्यादा तथा सामाजिक महत्व को दलित परिप्रेक्ष्य में जांचा–परखा गया है। जमीदारी शोषण भूमि से जुड़ा हुआ है। दलित समाज के लिए धर्मपरिवर्तन कितना प्रभावी रहा तथा इससे जुड़ी सवर्ण मानसिकता को भी विस्तार से देखा गया है।

दलित राजनैतिक चेतना को गोपाल उपाध्याय के 'एक टुकड़ा इतिहास' के संदर्भ में अध्ययन किया गया है। अपने अधिकारों के लिए लडते हुए दलित और उनमें विकसित स्वनेतृत्व

को तात्कालिक आंदोलनों में तलाशा गया है। विभिन्न राजनीतिक दलों का दलितों के प्रति स्वार्थ और गाँधी के मंदिर प्रवेश आंदोलन तथा उन्ही के मानसपुत्रों द्वारा उन्ही के सिद्वान्तों की धज्जियां उड़ाना के सिद्धान्त और व्यवहार को विस्तार से देखा गया है।

'नाच्यौ बहुत गोपाल' के माध्यम से भंगी समाज और भारतीय समाज का अध्ययन मानवीय मूल्यों को केन्द्र में रखकर किया गया है। लेखक का दावा भंगी समाज के समग्र चित्रण का परन्तु, उसकी असफलता को लेखकीय दृष्टि और पूर्वाग्रह के संदर्भ में परखा गया है।

दलित जन के उत्थान के लिए संविधान में आरक्षण का प्रावधान किया गया जिससे वे भी समाज में आगे बढ़ सके। शिक्षा में भी आरक्षण की व्यवस्था की गई। ऐसे में दलित विद्यार्थी को विद्यार्थी की सहज हैसियत नहीं मिल पाती है। इसके मूल में जातिवादी मानसिकता और शिक्षा संस्थानों की भूमिका का विस्तार से अध्ययन किया है।

संविधान लागू होने के साथ ही अस्पृश्यता समाप्त कर दी गई। वास्तव में ऐसा कुछ नहीं हुआ उसका रुप बदल गया। आज भी जाति से व्यक्ति का मूल्यांकन किया जाता है। उसकी सारी विद्वता उसकी जाति से जुड़ी है। 'किस्सा गुलाम' इसको पूरे सामाजिक संदर्भ में उठाता है। सरकारी कार्यालयों में प्रचलित जातिवाद और इसमें पिसते दलित की दारुण कथा को अध्ययन 'यथा प्रस्तावित' के माध्यम से किया गया है।

चौथा अध्याय दलित संस्कृति पर केन्द्रित है। दलित समाज में प्रचलित रीति–रिवाज के अन्तर्गत संस्कारों के प्रति दलितों का झुकाव। विवाह संबंधी मान्यताएं, दहेजप्रथा, विधवा विवाह आदि का अध्ययन संस्कृति की मुख्यधारा के संदर्भ में किया गया है। दलितों में प्रचलित कुछ प्रगतिशील तत्वों को भी देखा गया है। स्त्री–पुरुष संबंधों को पिता–पुत्र, माँ–बेटे, पति–पत्नी के रिश्तों के परिप्रेक्ष्य में समझा गया है।

दलित समाज में अशिक्षा सबसे अधिक पायी जाती है। ऐसे समाज में धार्मिक अंधविश्वासों की संभावना बढ़ जाती है। भूत–प्रेत, जादू–टोना, शुभ–अशुभ और पाप–पुण्य की चिंता सबसे अधिक दलित समाज में व्याप्त है। हर बीमारी का कारण भूत–प्रेत को मान लेते है। अंधविश्वास उनकी जीवन चर्चा से जुड़ा हुआ है, और धार्मिक ढ़ोगी उनका शोषण कैसे करते हैं? इन सभी पहलुओं का विस्तार से अध्ययन किया गया है।

पांचवा अध्याय दलित समाज में विकसित स्वचेतना और परम्परागत साहित्य पर उठाए गए प्रश्न तथा दलित साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र की मांग को दलित साहित्य की आवश्यकता के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन किया गया है। इसमें मुख्य रुप दलित कथा साहित्य, दलित आत्मकथा, परम्परा के मूल्यांकन का दलित दृष्टिकोण और दलित साहित्य तथा सौन्दर्यशास्त्र को विस्तार से दलित साहित्य के विभिन्न विधाओं के विकास क्रम में देखा गया है। समाज, साहित्य और परम्परा के प्रति विकसित दलित दृष्टि तथा हिन्दी साहित्य पर उसके प्रभाव तथा दलित साहित्य पर लगाए गए विभिन्न आरोपों का खण्डन–मण्डन समग्रता में किया गया है।

छठा अध्याय निष्कर्ष के रुप में लिखा गया है जिसमें सारे शोध की बात को संक्षेप कहनें का प्रयास किया गया है।

अब आता है कृतज्ञता प्रकट करने का प्रश्न। यह व्यक्त करने की चीज नहीं है। यह निरन्तर शिद्दत के साथ महसूस करने की है। लेकिन बिना अभिव्यक्ति के यह निरर्थक लगती है।

शोध कार्य के दौरान जिस परामर्श, सहयोग वैचारिक स्वतंत्रता की जरुरत पड़ती है वह गुरुवर डा. पुरुषोत्तम अग्रवाल के निर्देशन में ही संभव था। इनके प्रति आभार प्रकट करना मेरी घृष्टता होगी।

इस शोध कार्य को पूरा करने में डा. तुलसीराम का महत्वपूर्ण योगदान रहा । उन्होने हर दृष्टि से समय – असमय-मेरी सहायता की, जिसके लिए मेरे पास शब्द नहीं है ।

पूनम का हर कदम पर मुझे प्रेरित और प्रोत्साहित करना तथा उसका प्यार और डांट – फटकार मेरे उत्साह ओर मनोबल को बढता रहा । उसके प्रति आभार व्यक्त करना, अपने से दूर करना है ।

बजंरग जी, मित्र और सहपाठी रक्षा, शिल्पा, अलका, अनूप, शकील, संजीव, अभय, इरफान, शफीक के साथ हुई वैचारिक झड़पों में बहुत सी बातें स्पष्ट हुई । इनके प्रति आभार व्यक्त करना महज औपचारिकता होगी ।

अंत में उन विद्वजनों और मित्रों विशेष रूप से मेरे कॉलेज के सहयोगी कम संरक्षक अमर जी, महेश जी और अनिल जी का शुक्रगुजार हुँ जिन्होंने मुझे मानसिक संबल प्रदान किया।

अध्याय – प्रथम

नवजागरणः उपन्यास और दलित समाज

1. दलित हरिजन और अछूत : परिभाषा की समस्याएं

आदिम समाज में शिकारी अपने लिए भोजन बहुत कठिनाई से प्राप्त करते थे। परिवार के हर सदस्य – बच्चे, जवान, बूढ़े को अपना भोजन स्वयं जुटाना पड़ता था। ऐसी अवस्था में शोषण की खास संभावना नही थी। हॉलाकि इस काल में भी शारीरिक रुप से शक्तिमान व्यक्ति दूसरो द्वारा अर्जित शिकार को हड़प लेते रहे होगें। कालांतर में जब कृषि और पशुपालन कां विकास हुआ तो शोषण की संभावनाएं विकसित होने लगी। दूसरों के श्रम पर एक वर्ग निर्भर रहने लगा। समाज विशेषीकरण की ओर प्रवृत्त हुआ अर्थात शोषण का आरम्भ हुआ।

वैदिक काल में योग्यता के कारण कोई भी ब्राह्मण या अन्य ऋषि हो सकता था। चातुर्वण्य का बंधन ढीला था, कोई भी गुण था कर्मानुसार एक वर्ण से दूसरे वर्ण में जा सकता था। श्रृगवेद में किसी परिवार का एक सदस्य कहता है – "मैं एक कवि हूँ, मेरे पिता वैद्य है और मेरी माता चक्की चलाने वाली है, भिन्न व्यवसायों से जीविकोपार्जन करते हुए वे एक साथ रहते हैं।"[1] इससे समाज में किसी तरह के भेद – भाव का पता नहीं चलता है परन्तु व्यवसाय के आधार पर समाज में विभेदीकरण का आभास अवश्य मिलता है। आगे चलकर पेशों ने जातिगत रूप धारण कर लिया और कर्म का स्थान अब जन्म ने ले लिया। कालान्तर में इस पर धर्म ने अपनी मुहर लगा दी।

भारतीय वर्ण व्यवस्था, जातिव्यवस्था पूरी तरह कल्पित है पर सामाजिक यर्थाथ की कठोर वास्तविकता है। भारत में वर्ण व्यवस्था के प्रवर्तन का श्रेय 'मनुस्मृति'[2] को दिया जाता है। उससे भी पूर्व का एक उल्लेख श्रृगवेद के पुरुषसूक्त में है जिसमें चतुवर्ण की उत्पत्ति के संबंध में एक

---

1 रामशरण शर्मा – प्राचीन भारत , NCERT , पृ. 83

2 डा. अम्बेडकर सम्पूर्ण वांड्मय – 15 पृ. – 2

हस्यास्पद कल्पना है – ब्राहमण की उत्पत्ति आदि मानव (ब्रह्मा) के मुख से, क्षत्रिय की भुजाओं से, वैश्य की जंधाओं से और शूद्र की पैरों से हुई है –

"ब्राहमणोस्य मुखपासीद् बाहु राजन्य कृतः।

अरु तदस्य यद्वैश्यः पादम्या शूद्रोअजायतः।।[3]"

– ऋगवेद के 10 वें मण्डल (पुरूषसूक्त) के 90 वें मंत्र का 12 वां श्लोक

इस प्रकार स्वयं ईश्वर ने समाज में शूद्र की भूमिका तय कर दी। अर्थात पुरुषसूक्त का यह मंत्र 'विश्वोत्पत्ति' का वर्णनमात्र नहीं है बल्कि समाज के विशेष विधान (चातुर्वर्ण्य) का ईश्वरीय आदेश है। इसको मजबूती प्रदान करने के लिए अन्य अनेक शास्त्रकारों ने इसका तोता रटंत पाठ दोहराया और उसकी पवित्रता को जारी रखा। जिन विद्वानों ने इसका विरोध किया, उन्हें हिन्दू समाज के शिल्पी मनु ने सदा के लिए दबा दिया। मनु ने दो कार्य किए –सर्वप्रथम उसने पुरुषसूक्त के आदर्श को ईश्वरीय आज्ञा के रुप में नए सिरे से प्रतिपादति किया। मनु ने कहा कि "वेद ही धर्म का एक मात्र और अंतिम आधार है।"[4] इसका परिणाम यह हुआ कि वर्णव्यवस्था तर्क से परे हो गई और वर्ण व्यवस्था का आधार जन्मगत हो गया। शूद्रों को तीनों उच्च वर्णो की सेवा का कार्य निश्चित कर दिया गया और सूत्र तथा स्मृति काल तक आते – आते शूद्रों की स्थिति हेय हो गई। ग्रंथकारों ने शूद्रों पर अनेक अशक्तताएं लाद दी। मनु ने शूद्रों को मानवीय अधिकारों से वंचित करते हुए "चोरी को छोड़कर अन्य किसी भी अपराध के लिए कठोर शारीरिक दण्ड का विधान कर दिया।"[5] मनुस्मृति के विधान का कुप्रभाव यह हुआ कि समाज का बहुत बड़ा वर्ग अकारण ही हीन, नीच, अस्पृश्य और हत्तेज कर दिया गया। मनु के दण्ड विधान के बारे में इतिहासकार आर. एन. दांडेकर ने अपनी पुस्तक 'Age of Guptas' में लिखा" मनु के विधान घनघोर प्रतिक्रियावादी है और उनसे प्रतिशोध की भावना की बू आती है"।[6] शूद्रों के प्रति इस घृणा और दण्ड विधान के कारणों का उल्लेख किसी भी ग्रंथकारों या टीकाकारों ने नहीं

---

[3] दयानन्द सरस्वती – श्रृगवेद (हिन्दी भाष्य), भाग – 5 पृ. 899

[4] प. श्री हरगोविन्द शास्त्री – मनुस्मृति (हिन्दी ढीका) , पृ. 36 ("वेदोसखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले चतद्विदाम्"।) (अध्याय – 2, श्लोक – 6)

[5] वही, पृ. 217

[6] नरेन्द्र सिह – दलितों के रूपांतरण की प्रक्रिया, पृ. 42

किया। जहाँ तक शिल्पकारो का प्रश्न है चमड़े के काम के प्रति भी घृणा के प्रमाण नहीं मिलते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि कोई भी कार्य अपने स्वरुप के कारण अपवित्र नहीं माना जाता था।[7]

धर्मसूत्रों में शूद्रों के लिए नियमों की कठोरता उसे एक निश्चित कर्मों के दायरे में बांध दिया, जिसे हेय दृष्टि से देखा जाता था। अगर इन कर्मों को "उच्चवर्ण का करता था तो उसके साथ शूद्रवत व्यवहार करने का विधान किया गया"[8] इससे स्पष्ट है कि कुछ व्यवसायों को हीन कोटि का मानने की प्रवृत्ति चल पड़ी और काल क्रम में पूरे शूद्र वर्ण के पेशे को कलंकित किया जाने लगा। ऐसे व्यवसायों को भी हीन माना गया जो किसी समाज की न्यूनतम और बेसिक आश्यकता थी। तब प्रश्न उठता है कि शूद्र कौन थे? क्या शूद्र आर्य थे ? चातुर्वण्य कैसे बना? आदि प्रश्नों के परस्पर विरोधी उल्लेख वेद, ब्राह्मण और पौराणिक ग्रंथो में मिलते हैं। डा. अम्बेडकर की यह मान्यता रही है कि ब्राह्मणों व क्षत्रियों के पारस्परिक संधर्ष में जो वर्ण अशक्त हो गया, वह शूद्रों में परिगणित होता चला गया।"[9] अर्थात ब्राह्मणों ने शूद्रो कां बहिष्कार करते हुए उन्हें उपनयन संस्कार से वंचित कर दिया। जनश्रुति और श्वेतकेतु[10] की कथा से स्पष्ट होता है कि प्रारम्भ में सभी का उपयन संस्कार होता था। अर्थात शूद्र आर्य थे। जैसा कि 'मनुस्मृति'[11] में कहा गया है कि समाज में सिर्फ चार ही वर्ण है पांचवा नहीं, तथा कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र[12] में भी शूद्रों को आर्य कहा गया हैं।

चूंकि डा. अम्बडेकर का शूद्र संबंधी विचार उचित लगता है। अतः प्रश्न उठता है कि क्या प्रारम्भ में चार वर्ण नहीं थे यदि यह मान भी लिया जाय कि पुरुषसूक्त बाद का क्षेपक है तब भी यह नहीं माना जा सकता कि ऋगवेद के समय में वर्ण व्यवस्था नहीं थी। अर्थात ऋगवेद में वर्ण का उल्लेख पुरूषसूक्त को छोड़कर कई स्थानों में हुआ है। "ऋगवेद में ब्राह्मणों का जिक्र एक वर्ण के लिहाज से पन्द्रह बार (15), और क्षत्रिय का नौ बार (9) आया है। परन्तु शूद्र का नाम इस अर्थ में कहीं नहीं आया है। तैतरीय और शतपथ ब्राह्मणों में भी केवल तीन वर्णों का ही उल्लेख

---

[7] राशरण शर्मा – शूद्रो का प्राचीन इतिहास, पृ. 53
[8] डा. अंबेडकर : सम्पूर्ण वांडमय, – 13 पृ. 5
[9] वहीं, – 13 प्राक्यन
[10] वही, पृ. 125
[11] मनुस्मति अध्याय – 10, श्लोक – 4 (उद्वत – डा. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाड्. मय , 14, पृ.. 138)
[12] राशरण शर्मा – शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ. 13

है।"[13] अर्थात प्रारम्भ में तीन ही वर्ण थे। चौथे वर्ण के रूप में शूद्र का उल्लेख बाद में हुआ। परन्तु पुरूषसूक्त में कहा गया है कि चारो वर्णों का आदिकाल से अस्तित्व है।

वर्णव्यवस्था कालांतर में कार्यो की विभिन्नता के कारण जाति व्यवस्था में परिवर्तित हो गई और इसका आधार जन्म से हो गया। गुप्तकाल तक आते – आते अनेक जातियों का उल्लेख मिलने लगता है। वर्णशंकर के कारण उपजातियों का जन्म हुआ और अधिकांशतः शुद्र वर्ग में समाहित कर ली गई। मौर्योत्तर और गुप्तकाल में शुद्रों की स्थिति में परिवर्तन की झलक मिलती है। दासप्रथा का कमजोर होना, शूद्र कृषक के रुप में, दण्ड विधान का कमजोर होना और शूद्रों को वाणिज्य का भी अधिकार मिला। इसके बावजूद पुराने भेद–भाव पूर्णतः बने रहे। जाति व्यवस्था को भी दैवीय रुप में स्वीकार किया गया। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि मनुष्य जीवन की दूसरी परिस्थितियां बदल सकती हैं लेकिन जन्म आधारित जातियों को नहीं बदला जा सकता है। इस व्यवस्था को तोड़ने वाला समाज बहिष्कृत कर दिया जाता था। प्रायश्चित का विधान भेद–भाव पूर्ण था। एक हिन्दू अपनी सामाजिक स्थिति नहीं बदल सकता क्योंकि वह अपनी जाति नहीं बदल सकता था। दुनिया के सभी समाजों में गैर बराबरी पायी जाती है। लेकिन सिर्फ हिन्दू व्यवस्था की यह बिलक्षणता है, जिसमें अपने ही समाज के सबसे अधिक परिश्रमी वर्ग को अछूत बनाकर सारे मानवीय अधिकारों से वंचित कर दिया गया।

हिन्दू विधान के निर्माता मनु ने अपने नियम में कहा कि वर्ण केवल चार है और पांचवा वर्ण नहीं होगा। इसका स्पष्ट आशय यह था कि "मूलतः चार वर्ण हैं और वे चार ही रहने चाहिए अर्थात अस्पृश्य हिन्दू समाज व्यवस्था से बाहर ही रहे।"[14] अर्थात चार वर्णों के अतिरिक्त एक पांचवा वर्ण अस्पृश्यों का था। कालांतर में जाति व्यवस्था के उदय के साथ ही इनको भी हिन्दू व्यवस्था से जोड़ दिया गया।

'पुरुषसूक्त' ने कुछ विशेष शब्दों और अभिव्यक्तियों को जन्म दे डाला– सवर्ण, अवर्ण, द्विज, अद्विज और त्रैवर्णिक। ये नाम केवल नाम ही नहीं बल्कि ये वास्तविक अधिकारों और विशेषाधिकारों को दर्शातें हैं। सवर्ण शब्द आमतौर पर अवर्ण का विलोम है। सवर्ण का अर्थ है वह जो चारों वर्णों में से कोई एक हो। अवर्ण वह है जिसका चारों वर्णों से कोई संबंध न हो अर्थात

---

[13] डा. अम्बेडकर संपूर्ण वांड्मय, 13, पृ. 85
[14] डा. अंबेडकर सम्पूर्ण वांड्मय– 10, पृ. 66

अछूत या अतिशूद्र। हिन्दू समाज व्यवस्थ के पोषक शूद्रों और दास–दस्युओं को ही अछूत के रुप में स्वीकार करते चले आ रहे हैं। इस पर शोध करने की आवश्यकता नहीं समझी गई। डा. अम्बेडकर ने अस्पृश्यता पर पर्याप्त शोध एवं विवेचन कर परम्परागत विचारों को खंडित किया। जैसा कि हम जानते हैं कि ऋगवेद में दास शब्द चौवन (54) बार और दस्यु शब्द अठहत्तर (78) बार आया है इससे प्रकट होता है कि दोनों भिन्न थे। शुद्र केवल एक बार 'पुरुष सूक्त' में प्रयुक्त हुआ है वह भी दास और दस्यु के अर्थ में नहीं। धर्मसूत्रों में विरोधी मत मिलता है रत्नियों में अनिवार्य रुप से एक शूद्र होता था। लेकिन "दस्यु शब्द उन लोगों के लिए प्रयोग किया गया जो आर्यों के धर्म का पालन नहीं करते थे।"[15] इसके बावजूद कहीं भी उनके अस्पृश्य होने का पता नहीं चलता है।

डा. रामशरण शर्मा ने अस्पृश्यता की उत्पत्ति के बारे में लिखा है" एक कारण आदिम जातियों का संस्कार हीन जीवन था, क्योंकि वे मुख्यतः शिकारी और बहेलिया के रुप में जीवन बिताते थे और उनकी तुलना में ब्राह्मण समाज के लोग धातु कर्म और कृषि का ज्ञान रखते थे और नगरीय जीवन का विकास कर रहे थे। कालांतर में उच्चवर्ण के लोग खासकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, धीरे–धीरे उत्पादन कार्यों से हाथ खींचने लगे, जिसका परिणाम यह हुआ कि उनके मन में न केवल शारीरिक श्रम वाले कार्यों के प्रति घृणा बढ़ी बल्कि वे उन्हें हेय समझने लगे जो इस तरह का कार्य करते थे। ... आदिम जातियों की हीन संस्कृति, श्रमसाध्य कार्य के प्रति बढ़ते हुए घृणा के भाव और निषेध तथा अपवित्रता संबंधी अतिप्राचीन विचारों की पृष्ठिभूमि में अस्पृश्यता जैसी असाधारण भावना का उदय हुआ।[16] अगर ऐसा होता तो कुछ जातियाँ ही क्यों अस्पृश्य बनती? बल्कि आदिवासी भी अस्पृश्य होते।

डा. अम्बेडकर ने अस्पृश्यता के संबंध में विस्तृत विवेचन करते हुए निम्न स्थापनाएं की है–

1. हिन्दुओं और अछूतों के बीच नस्ल का कोई अंतर नहीं है।

---

[15] डा. अंबेडकर सम्पूर्ण वांड्मय– 13, पृ. 79
[16] रामशरण शर्मा– शुद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ. 123

1. आरम्भ में हिन्दुओं और अछूतों के बीच अंतरः छुआ–छूत शुरु होने से पहले एक कबीले के सदस्यों और दूसरे कबीले के छितरे हुए सदस्यों के बीच अंतर था। अंततः एक बहिष्कृत छितरे हुए लोग अछूत कहलाए।

2. जैसे नस्ल छुआ–छूत का आधार नहीं है वैसे ही व्यवसाय अस्पृश्यता का आधार नहीं है

3. अस्पृश्यता के उत्पत्ति के दो मूल कारण हैं–

(1) ब्राह्मणों द्वारा बहिष्कृत लोगों और बौद्धों के प्रति तिरस्कार भाव रखना तथा घृणा करना।

(2) बहिष्कृत लोगों द्वारा गोमांस भक्षण जारी रखा जबकि दूसरों ने इसे त्याग दिया।

5. अस्पृश्यता का उद्‌गम तलाश करने के लिए अछूतों और अशुचितों के बीच अंतर करने में सावधानी बरतनी चाहिए। सभी हिन्दू लेखकों ने अछूतों को अशुचि बताया है यह एक गलती है। अस्पृश्यता और अशुचि एक दुसरे से भिन्न है।

6. अशुचितों का अस्तित्व धर्मसूत्रों के समय से आरम्भ होता है जबकि छुआ–छूत बहुत बाद में 400 ई. में अस्तित्व में आई।[17]

सामान्यतः यह लोग मानते हैं कि छुआ–छूत का आधार गंदगी, अशुचता तथा छूत लग जाने की आशंका है। पर यह सही नहीं है। कुछ जातियाँ पुश्तैनी छुआ–छूत की शिकार हैं। इनकी संख्या बहुत अधिक है। "1935 में भारत सरकार ने इस प्रकार की एक सूची तैयार की। यह दिल दहला देने वाली सूची है। इसमें 429 जातियां सम्मिलित हैं।..... देश में आज 5–6 करोड़ लोग ऐसे हैं जिनके स्पर्श मात्र से हिन्दू अशुद्ध हो जाते हैं"[18] किन्तु इस विशाल संख्या का छुआ–छूत जन्म, मृत्यु आदि की अशुचिता से सर्वथा भिन्न है। यह आजीवन (स्थाई) है। जो हिन्दू उनका स्पर्श करते हैं वे स्नानादि के द्वारा पवित्र हो सकते हैं। किन्तु ऐसी कोई भी चीज नहीं है जो अछूत को पवित्र बना सके। वे अपवित्र ही पैदा होते हैं और वे जन्म भर अपवित्र बने रहतें हैं। वे अपवित्र ही बने रहकर मर जाते हैं। आने वाली पीढ़ी भी इस कलंक से मुक्त नहीं हो पाती है। डा. अंबेडकर ने इस पर टिप्पणी करते हुए लिखा–"यह निर्विवाद है कि हिन्दुओं की छुआ–छूत एक

---

[17] डा. अम्बेडकर सम्पूर्ण वांड्मय – 14, प्राक्थन
[18] वही, पृ. 22

बेमिशाल व्यवस्था है। अहिन्दू समाज में भी लोगों को अपवित्र माना गया, परन्तु व्यक्तियों को, सारी की सारी जाति को कभी भी नहीं अपवित्र माना गया और उनकी अपवित्रता अल्पकालीन होती थी। लेकिन ऐसा कहीं नहीं हुआ कि एक वर्ग को अनंत काल तक पृथक या अस्पृश्य बना दिया जाय।"[19]

डा. अम्बेडकर बहिष्कृत और छितरे हुए लोगों को अछूत मानते हैं और इन छितरे हुए लोगों को बौद्ध माना है। इस संबंध में उन्होंने लिखा "ब्राहमण और बौद्धों में परस्पर घृणा का भाव विद्यमान था। यह बात अनेक साक्ष्यों से स्पष्ट होती है। नीलकंठ और अपरार्क (बौद्ध विहार में जाने को पाप धोषित किया तथा मनु ने बौद्धों के स्पर्श को अशुद्ध माना) तथा मृच्दकटिकम् में बौद्धों के प्रति घृणा के भाव का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि जो छितरे हुए आदमी थे वे बौद्ध थे। इसलिए ब्राह्मणों का आदर नहीं करते थे..... उन्हें अपवित्र समझते थे। दूसरी ओर ब्राह्मण भी इनकों पसंद नहीं करते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि छितरे आदमी अछूत समझे जाने लगे।[20] स्पष्ट है कि बौद्धों के प्रति घृणा का भाव अस्पृश्यता के मूल कारणों में से एक है, दूसरा गोमांसाहार है। चूंकि प्रारम्भ में सभी गोमांसाहारी थे "लेकिन कालांतर में बौद्धों पर श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए ब्राह्मणों में दोहरी क्रांति हुई। उन्होंने गोमांसाहार खाना छोड़ दिया तथा मांसाहार स्पर्श त्याग दिया।[21] इस नई स्थिति में दूसरा वर्ग गोमांसाहार जारी रखा। अब गोमांसाहार केवल एक अपराध ही न था। यदि ऐसा होता तो इसका परिणाम केवल दण्ड होता। परन्तु इसे पाप ठहराया गया। यदि कोई गाय को पवित्र न माने तो वह पाप का भागी होता था और इसके साथ मेल–जोल रखना वर्जित था अर्थात वे अछूत बन गए।

इस संबंध में यह प्रश्न उठता है कि अस्पृश्यता अस्तित्व में कब आयी? कट्टर या रुढ़िवादी हिन्दुओं का कहना है कि यह अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है। अपने समर्थन में वे स्मृतियों और धर्मसूत्रों का हवाला देते हैं। क्या उस समय भी अछूत आज के ही अर्थों में प्रयुक्त होता था? धर्मसूत्रों और स्मृतियों में अंत्य, अन्त्यज, अन्तयवासिन तथा वाह्य शब्द का उल्लेख हुआ है। क्या इन शब्दों का वही अर्थ है जो अर्थ अछूत से? धर्मसूत्र इस प्रश्न का उत्तर देने में असमर्थ हैं। धर्मसूत्रकारों और स्मृतिकारों में विरोधाभास दिखाई देता है। "वेदव्यास के अनुसार चाण्डाल और

---

[19] डा. अम्बेडकर सम्पूर्ण वांड्मय – 14, पृ. 26
[20] वही, – पृ.. 76
[21] डा. अंबेडकर संपूर्ण वांड्मय.– 14, पू. 99

खपाक अंत्यज हैं किन्तु अत्री के अनुसार अंत्यज नहीं हैं। फिर अत्री के अनुसार बुरुद और कैवर्त अंत्यज है किन्तु वेदव्यास के अनुसार वे अंत्यज नहीं है"।[22] जहां तक वाह्य का संबंध है तो "मनु ने अनुलोम को वाह्य (बाहर का) और प्रतिलोम को हीन माना है। हीन, वाह्य लोगों से निचले दर्जे के है लेकिन न वाह्य ही मनु की दृष्टि में अछूत है और न हीन ही"।[23]

अब अछूत के लिए प्रयुक्त एक–एक शब्दों को अर्थ की दृष्टि से समझने की कोशिश करते हैं। *'अन्त्य'* नाम उन लोगों को दिया गया था जो गाँव के (बाहर) अंत में रहते थे। वृहदारणक्य उपनिषद की एक कथा में अन्त्य शब्द का प्रयोग "दिशा के अंत" के अर्थ में हुआ है।"[24] महाभारत के शांति पर्व (109.9) में अन्त्यजों के सैनिक होने का उल्लेख है। डा. अम्बेडकर ने लिखा" मेरी समझ में अंत्यज का अर्थ सृष्टि का अंत नहीं अपितु गाँव का अंत है। यह एक नाम है जो गाँव की सीमा पर रहने वालों को दिया गया।"[25] अछूतों के लिए एक शब्द 'चाण्डाल' भी प्रयुक्त होता है परन्तु इससे किसी जाति विशेष का भाव नहीं होता। यह एक दूसरे से भिन्न कई तरह के लोगों के लिए एक शब्द था। इससे स्पष्ट होता है कि उस समय अस्पृश्यता नहीं बल्कि अपवित्रता थी।

अस्पृश्यता सामाजिक मनोविज्ञान का एक पहलू है। यह एक दल की दूसरे दल के प्रति सामाजिक घृणा भाव है। यह स्वरुप बनने में कुछ समय लगा ही होगा। यह कब बीज से रक्तबीज बन सर्वग्राही हो गया, निश्चित रुप से तय नहीं किया जा सकता। अंत्यज शब्द का उल्लेख वेदों में हुआ है तब वे न अछूत थे और न ही अपवित्र। 'धर्मसूत्रों' के काल में अपवित्रता थी लेकिन अस्पृश्यता नहीं यही बात मनु के समय (200बी. सी. से 200 ए. डी.) में भी दिखाई देती है। अर्थात इस समय अस्पृश्यता नहीं। यू. एन. घोषाल के मतानुसार 'हमने देखा कि ऋगवेद से कौटिल्य तक दासों को अछूत नहीं माना गया था। हम यह भी देखते है कि इन उद्धरणों के अनुसार शूद्रों को गुलाम नहीं माना गया था।"[26] परन्तु 400 ए.डी. में भारत आए चीनी यात्री 'फाह्यिान' अपने विवरण में अस्पृश्यता का उल्लेख किया। अर्थात उस समय छुआ–छूत अस्तित्व में था। जबकि 'बाणभट्ट[27]

---

[22] डा. अंबेडकर संपूर्ण वांड्मय.– 14, पृ. 128
[23] वहीं, पृ. 149
[24] वही, पृ. 129
[25] वही, पृ. 36
[26] कुसुम मेघवाल– हिन्दी उपन्यास में दलित वर्ग, पृ. 12
[27] राम शरण शर्मा – शुद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ. 148

के समय छुआ–छूत नहीं बल्कि अशुद्धता का दिखावटी विधान था, पर 629 ए. डी. में भारत आए 'ह्वेनसांग'[28] के विवरण में कई जातियों के अस्पृश्यता होने का उल्लेख है। अर्थात इस समय तक अस्पृश्यता की उत्पत्ति हो गई थी। चूँकि गोमांसाहार छुआ–छूत के मूल में निहित है जैसा कि डा. डी. आर. भण्डारकार ने स्पष्ट किया है कि "चौथी सदी में किसी समय गुप्त नरेशों द्वारा गोवध प्राणदंडनीय अपराध घोषित किया गया।"[29] इसलिए हम कुछ विश्वास के साथ कह सकते हैं कि छुआ–छूत 400 ई. के आस–पास बौद्ध धर्म और ब्राह्मणधर्म के संघर्ष में से पैदा हुई। इस संघर्ष ने भारत के इतिहास को पूरी तरह बदल दिया।

अस्पृश्यता का यह रक्तबीज तब से लेकर आज तक कहीं–कहीं भारतीय समाज व्यवस्था का अंग बना हुआ है। इसने अस्पृश्यों को सभी मानवाधिकारों से वंचित कर दिया और दिन पर दिन एक विकराल रुप में सामने आया। इस व्यवस्था में अछूतों को कुत्ते, बिल्ली, गाय, बैल आदि से बदतर माना जाता था। इससे मुक्ति जन्म–जन्मांतर तक संभव नहीं थी। उसके लिए सभ्य जीवन के सभी रास्ते बंद थे। उसका काम सिर्फ सफाई करना था। अस्पृश्यता का अर्थ उसकी रोजी–रोटी की सुविधा नहीं है। एक हिन्दू कहावत है 'अस्पृश्य मरा गंदा हटा'। हिन्दू समाज को स्वच्छ रखने वाला स्वयं उपयोगिता समाप्त होने पर गंदा घोषित। यह अमानवीयता की हद है। हिन्दू समाज के इस श्रेणी क्रम में घृणा का पलड़ा भारी से भारी होता जायेगा। घृणा के भाव की अभिव्यक्ति सभी स्तरों पर अस्पृश्यों में दिखाई देती है। उनके नाम निंदासूचक होते थे जिसमें अस्पृश्यता की पहचान छिपी होती थी। सभी मनुष्य एक ही मिट्टी के बने हुए थे और उन्हें अधिकार भी है कि वे अपने साथ अच्छे व्यवहार की मांग करे। परन्तु 'हिन्दू एक अस्पूश्य को छूने के बजाय अमानवीय होना अधिक पंसद करता है।"[30] क्योंकि उसकी किताब में अछूत मानव की श्रेणी में ही नहीं आता है। हिन्दू वेदों को श्रुति कहते हैं। श्रुति का अर्थ है ईश्वर का वह शब्द जिसे मनुष्य ने सुना। इस अर्थ के अनुसार भी अस्पृश्य मानव नहीं हुए। क्योंकि उन्हें पढ़ने और सुनने का भी अधिकार नही था। ब्रिटिशकाल तक आते–आते यह समाप्त हो गया लेकिन फिर भी सभी योग्यता रखते हुए भी उसे मानवीय अधिकारों से दूर रखा गया।

---

[8] वही, पृ. 149
[9] डा. ए. एल.: बाशम– अद्भूत भारत. पृ. 109
[10] डा. अम्बेडकर : सम्पूर्ण वांड्मय– 9, पृ. 54

अछूतों के साथ अमानवीयता भौगोलिक स्तर पर भी की जाती है। हर गाँव के दो हिस्से होते है– स्पृश्य और अस्पृश्यों के घर भौगोलिक दृष्टि से ये बिल्कुल अलग होते हैं। दोनों के बीच काफी दूरी होती है। किसी भी दशा में उनके घर उनकी जाति के नाम से जाने जाते हैं – चमरौटी, खटिकाना, महारवाड़ा – आदि। अस्पृस्यों के घर गाँव के दक्षिण में होते है क्यांकि दक्षिण दिशा अशुभ मानी जाती है। अर्थात् अपशकुन सर्वप्रथम अछुतों को ही लगे। सरकारी दस्तावेजों में अस्पृश्यों के घर (कानूनन) गाँव का हिस्सा माना जाता है। लेकिन हकीकत में गाँव से अलग होते हैं। वे जहां रहते हैं उन्हें 'बस्ती' बोला जाता है। इसलिए गाँव में रहने वाला हिन्दू जब गांव का जिक्र करता है, तो उसका आशय सवर्ण हिन्दू निवासियों को शामिल करना होता है जो स्थानीय रुप से वहां रहते हैं। ऐसा माना जाता है कि भारतीय गाँव समाज व्यवस्था के आदर्श रुप हैं। पर ऐसा नहीं है। प्रत्येक गाँव में अस्पृश्य के लिए एक आचार संहिता होती है जिसका अस्पृश्यों को पालन करना पड़ता था। उन कार्यों को न करने पर अपराध माना जाता था और अपराध के लिए सजा सामूहिक होती थी चाहे वह किसी एक अस्पृश्य ने ही क्यों न किया हो?

स्वतंत्रता के बाद अस्पृश्यता कानूनन समाप्त कर दी गई और आज अस्पृश्यता पूर्व अर्थ में प्रांसगिक नहीं रह गई है। फिर भी कुछ घटनाएं आए दिन घटती रहती हैं। "19वीं. – 20वीं. शदी में छुआ–छूत चरम बिन्दु पर थी। अछूतों के कमर में झाड़ू बांधकर और डण्डा बजाते हुए चलना पड़ता था। उनकी छाया से भी परहेज किया जाता था चूंकि 'सुबह–शाम छाया लम्बी होती थी, अतः उन्हें उस समय निकलना मना था।"[31] तालाब का पानी जिसे जानवर तो पी सकते थे लेकिन अस्पृश्य नहीं। मंदिर की तो बात ही दूर थी। भारतीय समाज की यह अजीब विडम्बना रही है कि मानव (अस्पृश्य) से मंदिर, तालाब और सड़कें अपवित्र हो जाती थी, इससे भी विचित्र बात यह है कि अपवित्रता को पशु के मूल–मूत्र से पवित्र कर लिया जाता था।

हिन्दू समाज व्यवस्था में अस्पृश्य कर दिए गए लोगों के सामाजिक सम्मान और मानवधिकारों के लिए गौतम बुद्ध से लेकर ड़ा अम्बेडकर ने संघर्ष किया। इस दिशा में गाँधी जी ने "अस्पृश्यता को हिन्दू समाज का कलंक धोषित किया।"[32] अस्पृश्यों को सामाजिक सम्मान दिलाने के लिए, प्राचीन काल से चले आ रहे शब्दों के स्थान पर 'हरिजन' शब्द का प्रयोग किया। इस

---

[31] डा. धनंजयकीर – डा. बाबा साहब अम्बेडकरः जीवन चरित्र, पृ. 110
[32] गांधी सम्पूर्ण वांड्मय– 47, पृ, 270

संबंध में वे लिखते हैं। "मैंने नवजीवन के गंभीर पाठकों से अंत्यज' शब्द के बदले एक नए शब्द की मांग की है.... जगन्नाथ देसाई ने राजकोट से लिखा कि अस्पृश्यों के लिए जो अन्त्यज शब्द प्रयुक्त होता है उसके रचना पर 'हरिजन' शब्द का प्रयोग करना चाहिए। इस शब्द का प्रयोग महासंत नरसिंह मेहता ने किया था जो नागर ब्राह्मण थे.... इतने महान संत के प्रयोग से पवित्र हुए शब्द को अपनाने में मुझे बड़ा हर्ष होता है.... मेरी दृष्टि में हमारी तुलना में 'अंत्यज' वास्तव में हरिजन हैं– ईश्वर की संतान हैं"[33] और वे लिखते हैं कि "हरिजन शब्द की यह व्याख्या की जा सकती है कि जिन लोगों को समाज ने त्याग दिया है वे लोग हरिजन हैं। इस शब्द में तीसरा लाभ यह है कि अंत्यज भाई इस नाम को हदय से ग्रहण करेंगे और उसके अनुरुप गुणों का विकास करेंगें, ऐसी संभावना भी इसमें है। कालीपराज शब्द मिटकर जैसे रानीपराज हो गया उसी तरह अंत्यज भी नाम और गुण से हरिजन बने।"[34]

स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान गाँधीजी ने देश के विभिन्न हिस्सों में भ्रमण किया। इस दौरान उन्होंने अस्पृश्यता की समस्या को निकट से देखा। तब उन्होंने उस वर्ण के सामाजिक सम्मान और धार्मिक अधिकारों के लिए व्यापक आंदोलन चलाया। 28 सितम्बर 1932 में आल–इंडिया एंटी अन्टचेबिल्टी लीग की स्थापना की और बाद में इसका नाम बदलकर 'हरिजन सेवक संध' कर दिया और पत्र का नाम 'हरिजन' रखा। यूँ हरिजन संबोधन प्रायः दलितों को सर्वग्राह्य नहीं हुआ। इसके निहितार्थो पर संदेहात्मक प्रश्न चिन्ह लगाए गए।

बेशक गाँधी जी 'हरिजन' शब्द के जनक नहीं है किन्तु उस पर न केवल उन्होंने स्वीकृति की मुहर लगाई; अपितु अपने शब्दों में परिभाषित, प्रचारित व प्रस्थापित किया। इसलिए यह उन्ही की देन है। चूंकि गाँधी आध्यात्मिक सुधारवादी है इसलिए इस शब्द का प्रयोग किया इससे कहीं अधिक वे रिफार्मिस्ट, सुधारवादी चिंतक है। अगर हिन्दुस्तान में अस्पृश्य चल रहा है, अछूत चल रहा है तो उसका अच्छा नाम दे देंगे, कहेंगे, हरिजन। वे यह नहीं कहेंगे कि हिन्दू धर्म सड़ा हुआ धर्म है। वे नहीं कहेंगे कि उस धर्म को लगा दो आग, जिस हिन्दू धर्म ने यह सब बेईमानी पैदा की। नही, वे कहेंगे, हिन्दू धर्म तो बहुत महान धर्म है। थोड़ी सी भूल हो गई है, उसको सुधार लो।

---

[33] गांधी सम्पूर्ण वांड्मय– 47, पृ. 273
[34] वही, पृ. 269

अतः गाँधी जी अस्पृश्यता नष्ट कर हिन्दू धर्म को साफ सुथरा बना दीर्घायु करना चाहते थे। जाति व्यवस्था को बिना छेड़–छाड़ किए।

उस समय की राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में प्रयुक्त डा. अम्बेडर की शब्दावली को देखे तो वह 'डिप्रेस्ड क्लास' शब्द का प्रयोग कर रहे थे। तो गाँधी जी 'हरिजन' के समर्थन में तर्क और सहमतियां जुटा रहे थे। गाँधी जी ने 'हरिजन शब्द भी सब हिन्दुओं को नहीं परोसा है अपितु इस बावत बहुधा विरोधाभासी विचार व्यक्त किए–"जब वह शुभ दिन आएगा तब हम सभी 'हरिजन' अर्थात् हरिभक्त कहलाने में गर्व अनुभव करेंगे।"[35] 'हरिजन' शब्द से दलितों की नकारात्मकता का एक और कारण यह लगता है, कि दक्षिण भारत में देवदासियों की संतानों को जिनके बाप का पता नहीं होता उन्हें 'हरिजन' कहने का प्रचलन था।"[36] हरिजन शब्द के निहितार्थ के प्रति असंतोष व्यक्त करते हुए शैलेष मटियानी लिखते हैं–" रुप में यह शब्द जितना सुन्दर है अर्थ में उतना ही भदेश और विकृत। हरिजन शब्द आदमी के 'शूद्र' या 'डोम' होने की पहचान है। युगद्रष्टा ने भयानक चूक कर दी। उन्होंने अंत्यज कहे जाने वाले लोगों के लिए तो नए सिरे से 'हरिजन' शब्द का विधान किया, लेकिन सवर्ण कही जाने वाली जातियों के लिए नहीं।"[37] वैसे अस्पृश्यों को हरिजन नाम से ही घृणा है। क्योंकि न उनमें इससे कोई सुधार हुआ और न ही उनकी स्थिति का बोध होता है। जिससे विद्रोह की चेतना जन्म ले सके। यह दया का सूचक है। ईश्वर की संतान कहकर उनकी असहाय स्थिति और आश्रित अवस्था को उजागर करना है और उन पर अत्याचार करने वालों से दया की भीख की याचना करना है। खैर नाम बदलने से दुनिया नहीं बदलती है। स्पष्टतः वे दलितों को सवर्ण समाज की ओर से संबोधित कर रहे थे। दूसरे शब्दों में दलितों पर हरिजन नाम थोप रहे थे।

कल का हरिजन आज अपने को 'दलित' कहता है। दूसरें भी अब उसे दलित कहने लगे है। यह अच्छी बात है। क्योंकि भारत में अछूत वर्ग एक पृथक और पीड़ित सामाजिक–राजनीतिक के रुप में मान्यता प्राप्त है। छुआ–छूत पर स्वतंत्रता के बाद प्रतिबंध लगा दिया गया। यह एक Derogatary Term था, जो आज प्रासंगिक नहीं रह गया। अछूत कहना गैर कानूनी है। नैतिक रूप से अस्पृश्यता समाप्त हो गई। आजादी के बाद अस्पृश्यता समाप्त नहीं हुई बल्कि कम

---

[35] गाँ सम्पूर्ण वाड्मय, – 53, पृ. 60
[36] माता प्रासाद – हिन्दी काव्य में दलित काव्यधारा; पृ. 27
[37] शैलेश मटियानी– हरिजन कहने का मतलब लेख, हंस, अक्टूबर 1986, पृ. 16

गुर्जर

हुई। दलित स्वयं द्वारा चुना गया शब्द है। आज सवर्ण समाज भी हरिजन संज्ञा को छोड़ रहा है और अनुसूचित जातियों को दलित मानने को विवश है। 'हर वर्ग को अपना नाम चुनने का हक है। दलित एक सटीक शब्द है। क्योंकि यह न केवल उनकी पूरी स्थिति का निचोड़ है बल्कि संघर्ष की प्रेरणा देता है।"[38]

'दलित' शब्द सर्वप्रथम शायद स्वामी श्रद्धानंद[39] ने अस्पृश्यों के लिए दिया था। गाँधी जी ने 'हरिजन', श्री मगोट ने 'अस्पृश्य', डा. अम्बेडकर ने 'बहिष्कृत' व 'अछूत' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया।"[40] दलित शब्द आधुनिक है लेकिन दलितपन प्राचीन। प्राचीन साहित्य में शूद्र, अतिशूद्र, चाण्डाल, अंत्यज आदि शब्द दलित शब्द के पुरखे हैं। दलित शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत धातु 'दल' से हुई है जिसका अर्थ तोड़ना, हिस्से करना, कुचलना है। इस शब्द के संदर्भ में विभिन्न शब्द–कोशों में विभिन्न अर्थ दिए हुए हैं–

1. दलित – दला गया, मर्दित, पीसा गया (संस्कृत – हिन्दी, इंग्लिश कोश – सं सूर्यकांत, पृ. 265).

2. दलित – मसला हुआ, दबाया, रौंदा या कुचला हुआ, विनस्ट किया (संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर– सं रामचंन्द्र शुक्ल, पृ. 468).

3. दलित – जिसका दलन हुआ है, ध्वस्त या नष्ट किया हुआ (मानक हिन्दी कोश– सं. रामचन्द वर्मा, पृ.35).

4. दलित – डिप्रेस्ड (मानक हिन्दी, अंग्रेजी कोश – राममूर्ति सिंह).

5. ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी में दलित का अर्थ–'डिप्रेस्ड' प्रायः नीची जातियाँ अछूत वर्ग किया है।

इस प्रकार 'दलित शब्द' के विभिन्न शब्द कोशों में विभिन्न अर्थ संदर्भ दिए है जो सामाजिक यथार्थ से उपजे हुए है। ये अर्थ अपने स्वरुप में अलग–अलग दिखते हुए भी एक समान

---

[38] राजकिशोर (सं.) – हरिजन से दलित , पृ. 5
[39] गाँधी सम्पूर्ण वांड्मय, 46, पृ. 235
[40] डा. आनंदवास्कर – हिन्दी साहित्य में दलित चेतना, पृ. 17

अर्थ प्रदर्शित कर रहे हैं– वह यह कि भारत की वर्ण व्यवस्था जिन्हें सामाजिक सम्मान का अधिकार व विकास का अवसर प्रदान नहीं करती वही दलित हैं। स्वातंत्रयोत्तर काल में वर्ण व्यवस्था की मान्यताओं का संकुचन हुआ तो दलित अवधारणा का विस्तार हुआ। आजकल न केवल 'दलित' शब्द का प्रचलन प्रमुख रुप से होने लगा है अपितु दलित के लिए दूसरी किसी भी समानार्थक संज्ञा के प्रति तीव्र नकार देखने में आ रहा है। अमेरिकी की विदुषी एलनार जिलिएट कहती है कि 'दलित एक सामान्य पहचान है उन भारतीय लोगों की जो सामाजिक रुप से अछूत–शूद्र, बहिष्कृत, उत्पीड़ित, दबे और पिछड़े है"[41]

'दलित' शब्द प्राय 'शूद्र अतिशूद्र, चाण्डाल, मेहतर, हरिजन आदि अछूत जातियों के लिए रुढ़ हो गया है फिर भी विद्वानों में दलित शब्द को लेकर मतभेद है। दलित शब्द व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता है। डा. एन. सिंह 'दलित का अर्थ– जिसका दलन, शोषण, और उत्पीड़न किया गया"[42] ही लगाते हैं तो ओमप्रकाश वाल्मीकि के अनुसार– 'दलित शब्द दबाए गए, शोषित पीड़ित तथा प्रताड़ित के लिए प्रयुक्त होता है।'[43] इससे स्पष्ट है कि दलित शब्द एक वर्गीय शब्द है जो न केवल अछूतों को ही अपने भीतर समाहित करता है बल्कि जाति व्यवस्था में शोषित सभी वर्गों के लिए प्रयुक्त होता है।

दलित' शब्द की व्यापक दृष्टि' उसका अर्थ और प्रयोग सर्वप्रथम महाराष्ट्र में शुरु हुआ। प्रारम्भ में दलित स्वयं अपने को पद्दलित कहते थे, लेकिन बाद में मराठी में इसके बदले सिर्फ 'दलित' शब्द प्रयोग होने लगा। मराठी शब्द कोशों में भी दलित शब्द का अर्थ विनष्ट किया हुआ मिलता है।[44]

1. दल – नाश करेण (विनष्ट करना)
2. दलित – नाश पावलेला (विनष्ट करना)
3. दीन–दलित – विनष्ट किया हुआ

---

[41] डा. अम्बेडकर स्मृति व्याख्यान, तीन मूर्ति सभागार दिल्ली, 16 मार्च 1992
[42] पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी– दलित साहित्य और सामाजिक न्याय, पृ. 48
[43] वही, पृ. 84
[44] उद्धत डा. आनंद वास्कर – हिन्दी साहित्य में दलित चेतना, पृ. 17

मराठी दलित साहित्य के चिंतकों में दलित वर्ग को परिभाषित करने में आंशिक भिन्नताएं है लेकिन फिर भी वह मूल रुप से एक समान आशय की ओर इशारा करती हैं। नारायण सुर्वे के शब्दों में 'दलित शब्द की कई मिली जुली परिभाषाएं है। इसका अर्थ केवल बौद्ध या पिछड़ी जातियां ही नहीं है समाज में जो भी पीड़ित हैं वे दलित हैं"[45] दलित साहित्य के प्रसिद्ध साहित्यकार नामदेव ढसाल दलित शब्द को परिभाषित करते हुए लिखते हैं" अनुसूचित जातियां, बौद्ध, श्रमिक, भूमिहीन, कृषक व भटकने वाली सभी जातियां दलित है"[46] उपर्युक्त बारे में एक संतुलित और व्यापक चर्चा करती है। इस प्रकार सदियों की पीड़ा और अस्मितागत आत्ममंथन से निकला शब्द दलित एक समुदाय विशेष का बोध कराने के साथ–साथ वेदना, आक्रोश और आमूल परिवर्तन की आकांक्षा का वाहक बना। जिसे सदियों से शोषित, उपेक्षित तथा अन्य घृणित नामों से विहित कर घृणा, हिकारत, निरीह और दया का पात्र बना दिया गया था, वहीं आज 'प्रखर आत्मबोध के साथ इन सारी शब्दावलियों को ठुकराकर स्वयं दलित के रुप में अपनी पहचान और अस्मिताबोध को साहित्य, समाज और राजनीति, तीनों ही स्तरों पर करा रहा हैं।

हिन्दू समाज इस घृणित व्यवस्था से लज्जित होने के बजाय हमेशा इसे उचित सिद्ध करने में लगा रहा, अपराध बोध कभी नहीं हुआ। अमेरिका–वियतनाम युद्ध की समाप्ति पर वियतनाम में अमेरिकी राजदूत डगलस पैटर्स ने कहा "जो बीत गया उसे हम बदल नहीं सकते है। हम केवल भविष्य को बदल सकते हैं।"[47] हिन्दू समाज सुधारक भविष्य की तरफ देखे ही नहीं। उनके लिए अतीत स्वर्ण युग था, राम–राज्य और सतयुग आदर्श हैं। इसलिए सनातन धमार्थ हिन्दू के लिए यह बुद्धि के बाहर की बात है कि छुआ–छूत में कोई दोष है। उसके लिए यह सामान्य और स्वाभाविक बात है।

किसी व्यक्ति का दलित होना या दलित की श्रेणी में आना किसी सुखद–गौरव या मिठास को द्योतक नहीं है बल्कि इससे तो हृदयहीन, अमानवीयता, कडुवाहट या तिरस्कार की ही बू आती है। इसी घृणास्पद बू की अनुभूति से बचने के लिए आजादी पूर्व 'अछूत' के स्थान पर 'हरिजन' शब्द लिया गया था। मगर यह शब्द भी जब कारगर सिद्ध नहीं हुआ तो इसे निरस्त कर इसके बदले में अपेक्षाकृत अधिक खूबसूरत एक और शब्द अनुसूचित 1935 में लाया गया। आज उस

---

[45] अंगुत्तर – अ/न/दि. 1993, पृ. 14
[46] नामदेव ढसाल– आम्ही, दिपावली अंक –1973, पृ. 77
[47] दैनिक हिन्दुस्तान, अमेरिका–वियतनाम संबंध– जे. एन, दीक्षित, 13 जनवरी 2002

शब्द का भी उतना प्रचलन नहीं है जितना कि दलित शब्द का। मगर क्या इन दोनों शब्दों से वैसी ही बू नहीं आती, जैसी कि अछूत या 'हरिजन' शब्द से आती थी। क्या इन शब्दों के मार्फत इस बात का पता नहीं चलता कि ये शब्द भी अछूत या खानाबदोश जातियों के लोगों से ही जुड़े हैं। दलित 'शब्द स्वयं चुना गया है जिसमें यह भाव है कि' वे दलित कहलाना पसंद करते हैं क्योंकि बेहतर होगा बुराई को उसके जाने पहचाने नाम से ही पुकारा जाय।"[48] फिर भी यह गलत न होगा कि इस बू को महज शब्द परिवर्तन के जरिए खुशबू में तब्दील नहीं किया जा सकता। इसके लिए हमें अपने रुढ़ियुक्त टुच्चे व श्रूड जातियों के नजरिए को बदलना होगा। इस नजरिए में बदलाव लाने की खातिर पीछे (नवजागरण) काफी कुछ पहल की गई।

2. नवजागरण का सामाजिक आधार और उसके सांस्कृतिक आग्रह

19वीं शदी के भारत में समाज और धर्म सुधार संबंधी जो आंदोलन शुरु हुए, वे भारतीय जनता की उदीयमान राष्ट्रीय चेतना और उनके बीच पश्चिम के उदारवादी विचारों के प्रसार के परिणाम थे। इन आंदोलनों ने धीरे–धीरे सामाजिक और धार्मिक नवनिर्माण का कार्यक्रम अपनाया और सारा देश इन आंदोलनों की चेपट में आ गया। सामाजिक क्षेत्र में जाति सुधार या जातिप्रथा की समाप्ति, औरतों के लिए समान अधिकार, बाल विवाह के उन्मूलन और विधवा विवाह का समर्थन, सामाजिक और कानूनी असमानता के विरोध आदि प्रश्नों पर आंदोलन हुए। धार्मिक क्षेत्र में अंधविश्वास, मूर्तिपूजा, बहुदेववाद, वंशानुगत पुरोहितों आदि का विरोध किया। आंदोलन के बारे में विपिन चन्द्र लिखते हैं "19वीं. शदी के सामाजिक–धार्मिक सुधार को आमतौर पर नवजागरण कहा जाता है। (हांलाकि यह कहना पूरी तरह ठीक नहीं है) इन आंदोलनों का ज्यादा जोर धार्मिक सुधार की तरफ ही था। फिर भी पूरी तरह धार्मिक नहीं।"[49] इस आंदोलन में सांस्कृतिक वैचारिक संधर्ष दो मोर्चों पर चला एक तरफ तो यह पारम्पारिक संस्कृति के प्रतिगामी तत्वों से जुड़ा रहा था। दूसरी तरफ इसका मुकाबला सत्ता द्वारा सुरक्षित औपनिवेशिक संस्कृति और विचारधारा से था। प्रारम्भ में सुधार की कोशिशें भारतीय संस्कृति की रुढ़ियों को दूर करने के लिए की गई थी।

भारत में ब्रिटिश शासन के आगमन से उदारवादी पाश्चात्य संस्कृति में दीक्षित नए प्रबुद्ध वर्ग ने मध्य युगीन समाज व्यवस्था के आधारभूत विचारों पर आधात किया। सामाजिक पार्यक्य और

---

[48] डा. अम्बेडकर सम्पूर्ण वांड्मय, 10, पृ. 287
[49] बिपिनचंद– भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, पृ. 46

वैषम्य का विरोध करते हुए समानता और सहयोग पर बल दिया। क्योंकि उनकी दृष्टि में यह राष्ट्रीय प्रगति के रास्ते में बाधक थी। इस तरह भारतीय संस्कृति और सामाजिक बदलाव को वैज्ञानिक और बौद्धिक ढंग से समर्थन किया। प्रारम्भ में यह परिवर्तन निश्चित रुप से समाज के शिक्षित और उच्चवर्गों के लिए था। क्योंकि सुधारक अधिकांशतः हिन्दू परम्परा की बात करते थे। उनके विचार एक विशेष वर्ग के लिए थे न कि आम लोगों के लिए। अतः वे क्रांतिकारी परिवर्तन की बात न कर सके। इस दृष्टि से सुधार आन्दोलन के दो वर्ग थे– (1) परम्परावादी सुधारक–ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्यसमाज, रामकृष्ण मिशन और गाँधी जी (2) क्रांतिकारी सुधारक फुले, डा. अम्बेडकर, स्वामी नायकर आदि। प्रथम वर्ग के सुधारक भिन्न–भिन्न सीमातक अपने धर्म को सुधारने और इसी आधार पर सामाजिक कुरीतियों को दूर करना चाहते थे। जबकि दूसरे वर्ग के सुधारक पूर्ण सामाजिक परिवर्तन की बात करते थे। अर्थात सामाजिक कुरीतियों, जाति व्यवस्था, छुआ–छुत को जड़ से समाप्त करने की कोशिश किए। उनका सुधार बौद्धिक और वैज्ञानिक आधार पर था, वे भविष्य की ओर देखते थे न कि अतीत में।

भारतीय राष्ट्रवाद के जनक कहे जाने वाले राममोहन राय ने प्रथमतः सुधार की दीपशिखा प्रज्जवलित की। वे वस्तुतः प्रजातंत्रवादी और मानवतावादी थे। उन्होंने जाति प्रथा को अप्रजातांत्रिक, अमानुषिक और राष्ट्रविरोधी बतलाया। उन्होंने कहा "इससे बड़ा सत्य कोई नहीं है कि जाति व्यवस्था हमारे समाज की सारी बुराइयों के मूल में है। इसके पूर्ण उन्मूलन के बिना प्रगति नहीं हो सकती।"[50] लेकिन वे जिस तरह सती प्रथा और बाल हत्या के खिलाफ आंदोलन चलाया उसी तरह जाति प्रथा और छुआ–छूत के लिए आंदोलन नहीं खड़ा किया। 'दासता का उन्मूलन व्यवहारिक स्तर पर न होकर महज औपचारिक ही था,।[51] ब्रह्मसमाज की तर्ज पर महाराष्ट्र में 'प्रार्थना समाज' ने भी जाति व्यवस्था की आलोचना की। उससे आगे जाने का पूर्वाग्रह नहीं त्याग सके।

ब्रह्मसमाज के विपरीत स्वामी दयानंद सरस्वती के 'आर्य समाज' ने पुरानी प्रवृत्तियों को पुनर्जिवित करने की बात पर विशेष जोर दिया। इनके अनुसार वेद भ्रमातीत, अमोघ, और भूत, वर्तमान, भविष्य के सारे ज्ञान के अविरल स्रोत हैं। इसलिए चार वर्णों की व्यवस्था का समर्थन

---

[50] ए. आर. देसाई– भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, पृ. 202
[51] वही, पृ. 230

किया। ब्राह्मणों की सत्ता का खण्डन, अंधविश्वासों का खण्डन, उसके प्रगतिशील तत्व थे लेकिन 'वेदों की ओर चलो' संकीर्णता का संकेत करता है। यह आन्दोलन वंशानुगत जाति प्रथा के विरुद्ध था लेकिन कर्म के अनुसार वर्ण व्यवस्था में विश्वास करते थे। आर्यसमाजियों की वेद की अंधता पर टिप्पणी करते हुए ए. आर. देसाई लिखते हैं "कोई भी ज्ञान इस अनंत और अविरल तौर पर विकासशील सामाजिक और प्राकृतिक दुनिया में अंतिम नहीं हो सकता। इसलिए वेद किसी भी तरह सारे ज्ञान के आधार नहीं हो सकते।"[52]

'रामकृष्ण मिशन' का उद्देश्य "पश्चिम के भौतिकवादी प्रभाव से भारत को बचाए रखना था। इसने पुनर्जिवित हिन्दू धर्म के लिए विश्व की सांस्कृतिक विजय को अपना साध्य माना।"[53] जातिव्यवस्था का विरोध करते हुए विवेकानंद ने कहा सभी मनुष्य समान है। सभी में ईश्वर व्याप्त है। अर्थात वे भी आध्यात्मिकता से मुक्त नहीं हो सके। इसी तरह 'थियोसोफिकल' आंदोलन भी हिन्दूधर्म में विश्वास रखते हुए समाज सुधार की वकालत की। एनीवेसेन्ट ने माना की "अछूत समस्या का कोई धार्मिक आधार नहीं और अछूतों के प्रति किया जाने वाला व्यवहार सामाजिक समस्या है।"[54] इसको दूर करने की बात की। डा. अम्बेडकर इन सुधारकों के एकांकी दृष्टिकोण पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं "जिन लोगों की जन आंदोलनों में रुचि है, उन्हे केवल धार्मिक दृष्टिकोण अपनाना छोड़ देना चाहिए। उन्हें भारत के लोगों के प्रति सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टिकोण भी अपनाना होगा।"[55]

महाराष्ट्र में ब्राह्मण और अब्राह्मण आंदोलन समानांतर चले और एक दूसरे को प्रभावित किए। ब्राह्मणवादी आंदोलन के समर्थक तिलक, रानाडे आदि थे जबकि दूसरे खेमें के प्रवर्तक ज्योतिबा फुले थे। उनकी अगली पीढ़ी में डा. अम्बेडकर, नारायण गुरु..... आदि लोग आते हैं। मुख्य धारा के सुधारकों को आंदोलन उच्चजाति तथा शहरों तक ही सीमित था। वे लोग भारतीय संस्कृति को पुनर्जिवित करने पर बल देते थे और जातिवाद तथा अछूत की अपेक्षा अन्य सामाजिक कुरीतियों पर अधिक जोर दिया। कालांतर में इन सुधारकों ने ब्रिटिशों से प्रजातिय समानता स्थापित करने के लिए मैक्समूलर द्वारा दी गई 'आर्य प्रजाति'[56] सिद्धांत को अपनाया। इसके मूल में

---

[52] ए. आर. देसाई– भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, पृ. 233
[53] वही, पृ. 234
[54] आर. एल. शुक्ल– आधुनिक भारत का इतिहास, पृ.358
[55] डा. अम्बेडकर सम्पूर्ण वांड्मय–10, पृ. 38
[56] आर. एल. शुक्ल– आधुनिक भारत का इतिहास, पृ. 356

जातिय सर्वोच्चता की भावना थी। जातिय आग्रह सुधारवादी आंदोलन छोड़ न सके। उन्होंने हमेशा हिन्दू राष्ट्र और हिन्दू संस्कृति की बात की, न कि सम्पूर्णजन की तथा राष्ट्रवाद को जागृत करने के लिए हिन्दू संस्कृति के प्रतीकों का प्रयोग किया। जहां बंगाल का भद्रलोक 'काली पूजा' को चुना वहीं महाराष्ट्र में तिलक ने 'गणपति पूजा' और 'शिवाजी' के द्वारा राष्ट्रवाद (साम्प्रदायिक) को जागृत किया। उनके प्रतीक उच्चजातिय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते थे। गाँधी का रामराज्य भी इसी की कड़ी था।

19वीं. शदी के 'जबरदस्त' बौद्धिक और सांस्कृतिक "आंदोलनों का दृष्टिकोण छद्मवैज्ञानिकता पर आधारित था और मानवतावाद का व्यवहारिक पक्ष बहुत ही संकीर्ण था।"[57] इसी कारण भारत में उदारवाद की परिणति पूँजीवाद के पोषण और समर्थन में हुई। राममोहनराय या अन्य का प्रयत्न ब्रिटिश साम्राज्यवाद के औपनिवेशिक ढांचे में एक तरह का तालमेल बैठाने तक ही सीमित था। "उदारवादी सुधारों का आम लोगों से बहुत कम संबंध था। तब सबसे बड़ी समस्या एक ब्रह्म की उपासना, सती प्रथा या बाल–हत्या नहीं बल्कि जातिवाद, अस्पृश्यता और इससे उत्पन्न आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक शोषण और गरीबी थी।[58] इन आधारभूत प्रश्नों पर सुधारकों ने नाममात्र ही ध्यान दिया और जो प्रयत्न हुए वे मौखिक, अस्पष्ट तथा असफल रहे।

इन आंदोलनों से भले ही कुछ मौलिक परिवर्तनों की शुरुआत हुई हो परन्तु इनसे देश का आधुनिकीकरण नहीं हुआ। "जिसे देश का आधुनिकीकरण माना गया था, वह पश्चिमीकरण से ज्यादा कुछ नहीं था। इसी औपनिवेशिक वर्चस्व के खिलाफ संघर्ष अपनी संस्कृति की रक्षा के रुप में अभिव्यक्त हुआ, और अपने आधुनिक मुखौटे के बावजूद यह आंदोलन छद्मवैज्ञानिकता का पोषक और बहुत हद तक रुढ़िवादी था। पुर्नजागरण काल का कोई भी आंदोलन धर्म से ऊपर नहीं उठ सका। 'सभी का चिंतन हिन्दू धर्म पर आधारित था। कोई भी एक आन्दोलन समस्त भारतीय जन को अपना कार्यक्षेत्र नहीं बना सका।"[59] कोई भी आंदोलन धर्म से पूर्णतः संबंध बिच्छेद नहीं करना चाहता था अतः उनमें से कोई भी समाज में आमूल परिवर्तन लाने की स्थिति में नहीं था।

---

[57] ए. आर देसाई– भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, पृ. 371
[58] ए. आ. देसाई – भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, पृ. 373
[59] वहीं, पृ 373

इन आंदोलनों का एक बड़ा दोष यह था कि उनमें से प्राय सभी अतीत, वेद–पुराण से प्रेरणा ले रहे थे। 'वुद्धिजीवी कहते हैं कि "हमारा अतीत तो सतयुग था, स्वर्ण युग था, राम, बुद्ध, कृष्ण हुए हमारे सब तीर्थांकर सब अवतार हो चुके हैं। श्रेष्ठ रचनाए–गीता, रामायण, महाभारत हो चुकी हैं। सब हो चुका हमारा। हमारा भविष्य? भविष्य हमारा कुछ भी नहीं है। सब अतीत है।"[60] यह प्रवृत्ति गैर वैज्ञानिक है। पुनर्जागरण के प्रायः सभी हिन्दू आंदोलन वैदिक जीवन को आदर्श मानते थे। वेद को आदर्श मानने का तात्पर्य था, वेदोत्तर पिछले तीन हजार वर्षों की भारतीय सभ्यता की उपलब्धियों को नकार देना। 'वेदों में वर्णित जीवन चरवाहा समाज के लिए तो आदर्श हो सकता था पर 19–20 वीं शताब्दी के समाज के लिए वह कत्तई उपयुक्त नहीं था। इस पर टिप्पणी करते हुए आचार्य रजनीश ने कहा है" परिस्थितियाँ हमेशा नई होती हैं। वे हमेशा नया जवाब मांगती है और हमारे पास जवाब रेडीमेड पुराने है। अधिकांश वेद–पुराण के हैं और कुछ नए अंग्रेजों ने दिए लेकिन स्वतंत्र होने के बाद हमने क्या किया?[61]

अतीत में स्वर्ण युग ढूँढने के आग्रह से मिथ्या भिमान एवं आत्मतुष्टि की भावना को बल मिला। इसने विज्ञान को नकार दिया। सुधारकों ने सांस्कृतिक विरासत के धार्मिक तथा दार्शनिक पहलुओं पर एकांगी जोर दिया। ये पहलु सभी लोगों की समान विरासत नहीं थे। दूसरी ओर प्राचीन काल तथा धर्मों की अंध प्रशंसा निम्न जातियों के लोगों को स्वीकार नहीं हो सकती थी जो मूलतः प्राचीन काल में विकसित अत्यन्त विनाशकारी जाति तथा अछूत संबंधी अत्याचार से शताब्दियों से उत्पीड़ित रहे थे।

कुछ विद्वान 'दलित मुक्ति' आंदोलन को हिन्दू सुधारवादी आंदोलनों में खोजते हैं। वे यह मानते है कि 'दलित शब्द विवेकानंद, एनीवेसेंट आदि ने कई बार प्रयोग किया था। अध्यात्मवाद इन आन्दोलनों का आधार था। इसमें दलित सवालों का हल खोजना, इन सवालों को आध्यात्मिक के साथ जोड़ना था तो दलित के वुनियादी कारणों को न जानना है या फिर दलितों के प्रति झूठी सहानुभूति दिखाना है। हिन्दुओं के ब्राहमणवाद, ईश्वरवाद, आध्यात्मवाद, आत्मवाद, द्वैतवाद ने ही छुआ–छूत, जाति व्यवस्था का भरण–पोषण किया। जब इस समस्या के समाप्त करने की बात उठी तो उनका यही दृष्टिकोण रहा कि आध्यात्मिक स्तर पर सभी मनुष्य समान है। सभी में ईश्वर का

---

[60] आचार्य रजनीश– नयी क्रांति की रुपरेखा, पृ. 42
[61] वही, पृ. 46

वास है। वे प्राचीन हिन्दू समाज व्यवस्था को बरकरार रखते हुए जाति व्यवस्था को समाप्त करने की बात करते है। अधिकांश सुधारक छुआ–छूत को सामाजिक बुराई मानते थे और अछुतोद्धार के लिए वे साफ–सफाई, मंदिर प्रवेश, आदि को विशेष महत्व देते थे।

किन्तु दलित समस्या पर फुले–अम्बेडकरवादी सोच पूरी तरह क्रांतिकारी सोच है। वे हिन्दू समाज व्यवस्था विरोधी थे। रामास्वामी नायकर ने कहा है "कुछ ऐसे तत्व होते हैं जिनका सुधार नहीं हो सकता, उनका केवल अंत ही करना होता है; ब्राह्मणीय हिन्दू धर्म एक ऐसा ही तत्व है।"[62] ये लोग समस्या की जड़ पर कुठाराघात किए और इनकी प्राथमिकताएं जाति प्रथा और छुआ–छूत ही थी। इन सुधारकों ने छुआ–छूत को समाप्त करने के लिऐ अपने–अपने तरह से आंदोलन चलाया। लेकिन सभी का लक्ष्य एक ही था। इन सबमें डा. अम्बेडकर का प्रमुख स्थान हैं। उन्होंने अस्पृश्य वर्ग के सम्मान दिलाने के लिए समाज, राजनीति, सभी स्तरों पर आंदोलन चलाया। 1924 में उन्होंने दलितों की नैतिक व आर्थिक उन्नति के लिए 'बहिष्कृति हितकारीणी सभा' की स्थापना की। सामाजिक समानता के लिए समाज समता संघ (1927) तथा 'अनुसूचित जाति फेडरेशन' नामक राजनीतिक दल का गठन किया। 1927 में उन्होंने 'बहिष्कृति भारत' नामक पाक्षिक पत्र प्रकाशित किया जिसमें दलित वर्ग की समस्याओं एवं उन पर हो रहे अत्याचारों को नग्न रुप में समाज के सामने लाए।

अस्पृश्यों के मानवीय अधिकारों के लिए उन्होंने सत्याग्रह किया। उनका प्रथम सत्याग्रह महाड़ के 'चवदार तालाब पर 1927 में हुआ। इस सार्वजनिक तालाब में कुत्ते–बिल्ली तथा अन्य जानवर पानी पी सकते थे लेकिन अस्पृश्य नहीं। इसे महाड़ आंदोलन के नाम से जाना जाता है इसकी सफलता से उत्साहित डा. अम्बेडकर और उनके समर्थकों ने 1930 में नासिक में मंदिर प्रवेश के लिए सत्याग्रह किया। उनका मंदिर प्रवेश आंदोलन दलितों की आध्यात्मिकता के लिए नहीं बल्कि मानवाधिकार के लिए था। जबकि गाँधी ने इसका विरोध किया था। गाँधी का मंदिर प्रवेश ईश्वर भक्त के रुप में था। उनके इस दृष्टिकोण पर टिप्पणी करते हुए डा. अम्बेडकर ने लिखा "वे उन निर्बल व्यक्तियों की रक्षा नहीं करना चाहते थे। उन्हें अपना रक्षक स्वीकार नहीं करते। उन्होंने अन्य धर्मों वालों से खुलेआम यह कहा कि वे अस्पृश्यों की मदद न करे।"[63] स्वयं

---

[62] ए. आर. देसाई– भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठिभूमि, पृ. 399
[63] डा. अम्बेडकर संपूर्ण वांड्मय, 19, पृ. 196

गाँधी के ही शब्दों में " अहिन्दू, हिन्दू की मदद कर सकता है। लेकिन किसी को भी अस्पृश्य की मदद नहीं करनी चाहिए"[64] इसीलिए उनकी नेकनियती पर आज दलितों के संदेह होता है।

छुआ–छूत के संबंध में डा. अम्बेडकर ने स्पष्ट रुप से कहा कि "हम लोग जब यह मानते थे कि छुआ–छूत हिन्दू धर्म पर लगा हुआ कलंक है तब तक छुआ–छूत को समाप्त करने की जिम्मेदारी अदलित हिन्दुओं की थी। लेकिन अब अस्पृश्यता हिन्दू धर्म पर लगा हुआ कलंक नहीं, वह हमारी देह पर लगा हुआ कलंक है। इसलिए इसे धोने का पवित्र कार्य हमें खुद ही करना है।[65] यही हिन्दू सुधारवादी और फुले–अम्बेडकर की सोच में बुनियादी फर्क है। वे इस कलंक को मिटाने के लिए दलितों में शिक्षा, स्वाभिमान, आत्मसम्मान जगाये तथा आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए औद्योगिकरण, आधुनिकीकरण की बात की। गाँधी जी इसके भी विरोधी थे। वे तो रेलगाड़ी और टेलीग्राफ का भी विरोध करते थे। जो काम बेजान रेलगाड़ी ने कर दिया वह कार्य एक भी हिन्दू सुधारवादी नहीं कर सका। अर्थात रेलगाड़ी ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, अछूत सभी को एक साथ ला दी।

वास्तव में हिन्दू सुधारवादियों में दलितोंद्धार की बात एक प्रतिक्रिया के रुप में सामने आयी। क्योंकि जब अछूत, दलित और आदिवासी समाज के लोग ईसाई धर्मान्तरण कर रहे थे। उसी समय हिन्दुओं की सबसे पहली प्रतिक्रिया हुई। शुद्धि आन्दोलन चलाया गया। कुछ समय बाद सुधारवादी आंदोलनों की बाढ़ आ गई। डा. अम्बेडकर लिखते हैं "क्या कारण है कि आर्य समाज और रामकृष्णमिशन जैसे सुधारकों के जन्म ऐसे समय में (क्यों) होते हैं जब हिन्दू धर्म खतरे में पड़ता है"।[66] इस तथाकथित नवजागरण का प्रभाव सम्पूर्ण भारत मे पड़ा–हिन्दी क्षेत्र कुछ ज्यादा ही प्रभावित हुआ।

---

[64] गाँधीः सम्पूर्ण वांड्मय– 49, पृ. 234
[65] डा. धनंजय कीर– बाबा साहब अंबेडकरः जीवन चरित, पृ. 86
[66] डा. अम्बेडकर सम्पूर्ण वांड्मय – 10, पृ. 196

3. हिन्दी क्षेत्र में नवजागरण: एक विहग अवलोकन

नवजागरण एक सामाजिक, सांस्कृतिक घटना हैं जो भारत के संबंध में एक विशेष अर्थ रखता है। इस नवजागरण के मूल में अनेक कारण देखे जा सकते हैं, जिनमें प्रमुख कारण है– अपने 'स्वत्व' की पहचान। भारतेन्दु के शब्दों में "स्वत्व निज भारत गहै।"[67] 'स्वत्व' का वही अर्थ है जो आज 'अस्मिता का है। इसी स्वत्व के लिए हिन्दी नवजागरण भी प्रयासरत था जिसकी विशेषताएं है– साम्राज्यवाद और सामान्तवाद का विरोध, लोकजीवन से भाषा और जिंदगी दोनों स्तरों पर जुड़ना, राष्ट्रीयता की भावना, जातिवाद की समाप्ति, बुद्धिवाद का विकास, हिन्दू – मुस्लिम एकता आदि।

हिन्दी प्रदेश में नवजगरण 1857 के स्वाधीनता संग्राम से शुरू होता है। इसके मूल में देश की एकता और किसान नेतृत्व था। धर्म और जाति की सीमाएं तोड़कर लाखो किसान एक लड़ाई लड़ रहे थे। यह संग्राम हिन्दी नवजागरण की पहली मंजिल हैं। दूसरी मंजिल, भारतेन्दु युग है। भारतेन्दु युग का साहित्य व्यापक स्तर पर गदर से प्रभावित है। इसका प्रमाण यह है कि इस साहित्य में किसानों को लक्ष्य करके, उन्हे संगठित और आंदोलन करने की दृष्टि से जितना गद्य लिख गया, उतना दूसरी भारतीय भाषाओं में नहीं लिखा गया। इस साहित्य का माध्यम संस्कृत–गार्भित भाषा नहीं, जैसा कि बंगला साहित्य में है, वरन वह शहरी बोलचाल की भाषा है और जनपदीय उपभाषाओं से अपना नाता जोड़े हुए है। सवाल यह है कि जहां से हिन्दी नवजागरण की शुरुआत मानी जाती है उसकी अभिव्यक्ति साहित्य में किस तरह हुई है? इस संबंध में डॉ. पुरुषोत्तम अग्रवाल का कहना है कि "जो साहित्यिक साक्ष्य इस नवजागरण के लिए प्रस्तुत किए जाते हैं– उनमें 1857 किस तरह आता है? एक पीडादायी लेकिन गौरवपूर्ण स्मृति के रुप में? या ऐसी स्मृति की तरह जिससे पिंड छुड़ाना है या फिर जिसकी जिम्मेदारी 'अन्य' पर डालकर खुद को राजभक्त सिद्ध करना है।"[68] इस संदर्भ में फरवरी 1872 की 'कविवचन सुधा' में भारतेन्दु की टिप्पणी जो एक मुसलमान द्वारा लार्ड मेयो की हत्या के संबंध में थी का उल्लेख डा. पुरूषोत्तम

---

[67] रामविलास शर्मा– भारतेन्दु हरिश्चंद और हिन्दी नवजागरण की समस्याएं, पृ. 56
[68] डा. पुरूषोत्तम अग्रवाल – तीसरा रूख , पृ. 99

अग्रवाल ने किया है" ये दुष्ट प्राण प्रतिष्ठा और धर्म को विशेष मानते है.... इसलिए हत्यारे को 'हरामखाने' को दिया जाय, सुअर को चर्म के वस्त्र पहनाए जाय.... लोगों में राजभक्ति नहीं है।"[69] इससे स्पष्ट है कि हिन्दी नवजागरण की नींव का आधार ही संदेहास्पद है। फिर इसमें दलित अभिव्यक्ति कैसे हो सकती है? कल्पना की जा सकती है।

भारतीय स्वाधीनता आंदोलन में स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार की धूम और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। सर्वप्रथम भारतेन्दु ने ही स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार की प्रतिज्ञा ली। 23 मार्च 1879 की 'कविवचन सुधा' के प्रतिज्ञा पत्र में उन्होंने लिखा था कि "आगे कोई विलायती कपड़ा न पहनेगे और हिन्दुस्तान का बना कपड़ा ही पहनेगे।"[70] गदर के इश्तहारों में भारतीय व्यापार और उद्योग–धंधो के विनाश की जो बात कही गई, उसे हरिश्चन्द्र भी दोहरते हैं। इस संबंध में 26 जनवरी की 'कविवचन सुधा' में लिखा कि "क्या यह अनीति नहीं है कि अनुमान दो सौ वर्ष हुए उनका अधिकार इस देश में है। इन्होने हमारे धन–धान्य की वृद्धि में कोई उपाय नहीं किया और केवल अपनी भाषा सिखाया तथा सब व्यापार और धन अपने हस्तगत किया। क्या यह खेद की बात नहीं है कि हमको कला–कौशल से विमुख रखा और आप स्वतः व्यापारी बनकर सब देश का धन–धान्य अपने देश ले गए"।[71]

भारतेन्दु ने स्वदेशी को देशोन्नाती का मूलमंत्र माना तथा सभी धर्मों और जातियों के लोगों की एकता पर जोर दिया। अछूत के प्रति अपना व्यवहार बदलने की सलाह देते हुए उन्होंने कहा "जाति में कोई चाहे ऊँचा हो चाहे नीचा, सबका आदर किजिए, जो जिस योग्य हो उसे वैसा मानिए। छोटी जाति के लोगों का तिरस्कार करके उनका जी मत तोड़िए। सब लोग आपस में मिलीए।"[72] भारतेन्दु यहां एक उपदेशक की भाँति सामने आते हैं। उनमें दलितों के प्रति दया और सहानुभति तो दिखती है परन्तु दलित संवदेना का विद्रोही स्वर नहीं दिखाई पड़ता। यह भारतेन्दु में ही नहीं उस युग के अधिकांश लेखको में भी मिलता है अर्थात वे एक मर्यादा में रहते हुए जातिवाद और धार्मिक जड़ता का विरोध करते हैं। यह इस काल के लेखकों की सीमा है।

---

[69] डा. पुरूषोत्तम अग्रवाल – तीसरा रूख, 99
[70] डा. रामविलास शर्मा–भारतेन्दु हरिश्चनद और हिन्दी नवजागरण की समस्याएं, पृष्ठ–57
[71] वही, पृ. 56
[72] डा. रामविलास शर्मा,–भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृ–42

स्वदेशी के साथ भारतेन्दु ने धार्मिक सहिष्णुता और हिन्दू–मूस्लिम एकता का सूत्र भी अपनाया। उत्तर भारत में राष्ट्रीय संस्कृति की नींव डाली। इस पर हमारी संस्कृति का निर्माण हुआ। स्त्री शिक्षा और छुआ–छूत के खात्मे, जनतंत्र आदि की शिक्षा अंग्रेजो से मिली थी। भारतेन्दु सामज सुधारकों की तरह प्राचीन संस्कृति और इतिहास को प्रेरक शाक्ति के रूप में प्रयुक्त कर रहे थे। उनकी संस्कृति जनवादी थी इसलिए वे सभी की समानता पर बल देते थे।

हिन्दी नवजागरण का तीसरा चरण महावरी प्रसाद द्विवेदी और उनके सहयोगियों का काल है। अगर भारतेन्दु युग नवजागरण का जन्म काल है तो द्विवेदी युग उसका विकास और व्यवस्था का युग। 1903 में द्विवेदी जी के 'सरस्वती' के संपादक बनने से नवजागरण का प्रसार हुआ। उन्होंने 15 अगस्त 1924 में लिखा "इस दुनिया की सृष्टि ऐसे ईश्वर ने की है जिसकी कोई जाति नहीं है, जो ऊँच–नीच का कायल नहीं, जो ब्राह्मण–अब्राह्मण, चाण्डाल, और कीड़े–मकोड़े तक में अपनी सत्ता प्रकट करता है। छुआ–छूत को मानने वालों को ऐसे ईश्वर का संसार छोड़ देना चाहिए"।[73] इस समय सामाजिक रूढ़िवाद को नया युग चुनौती दे रहा था। भारतेन्दु युग में पुरानी व्यवाथा को बदलने की मांग जहाँ–तहाँ सुनाई देती है, द्विवेदी युग में यह अधिक उग्र और अधिक व्यापक बन गई है।

सामाजिक रूढ़िवाद व धार्मिक कट्टरता पर प्रहार करने के लिए द्विवेदी जी की 'सरस्वती' पत्रिका ने भी बहुत सहायता की। सितम्बर 1914 में सरस्वती में पटना के हीराडोम की कविता *'अछूत की शिकायत* प्रकाशित हई –

हड़वा मसुइया के देहिया है हमनी के
ओकरे के देहिया बभनो के बानी
ओकरा के घरे–घरे पूजवा होवत बाड़े
सगरे इलकवा भइले जजमानी
हमने के इनरा के निगिचे न जाइले जा
पांक में से भरि–भरि पियतानी पानी।
पनही से पिटि–पिटि हाथ गोड़ तोरि देले
हमनी के एतनी के कही के हकलानी'।[74]

---

[73] डा. रामविलास शर्मा,–महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, पृ. 24
[74] डा. एन. सिंह,(स)–शिखर की ओर. पृ–291

गाँव के सर्वहारा–समुदाय की वर्ग चेतना यहां पहली बार यथार्थ रूप में सामने आती है। अछूतों को कुएं के पास भी जाने नहीं दिया जाता था। उसका सीधा सा प्रश्न है कि जिस हाड़–मांस का शरीर ब्राह्मण का बना है, उसी हाड़–मास का अछूत भी। फिर क्या कारण है कि ब्राह्मण को पूजा जाता है और अछूतों को जुतों से मारा जाता है, उसके हाथ–पैर तोड़ दिए जाते है? हीराडोम की रचना में जो प्रतिरोध का स्वर है, शोषण–उत्पीड़ का यथार्थ रूप है, करूणा और महत्व के साथ आत्म सम्मान की जो भावना है, वह हिन्दी साहित्य में प्रेमचन्द से पूर्व नहीं दिखाई देता है।

हीराडोम के बाद कोई दूसरी रचना नहीं दिखाई देती है। डा. पुरषोत्तम अग्रवाल के शब्दों मे 'महावीर प्रसाद द्विवेदी निसंदेह प्रणम्य है कि उन्होने 'सरस्वती' जैसी पात्रिका में हीराडोम की की कविता छापी। लेकिन जातीय भाषा, जनभाषा हिन्दी में हीराडोम जैसे कवियों की अच्छी–बुरी, कमजोर–मजबूत परम्परा क्यों कर नही बन पायी? हीराडोम के वंशज अपनी बोली बानी के मानक साहित्यिक शिष्ट रूप 'हिन्दी' के प्रति सर्जनात्मक लगाव क्योंकर नहीं स्थापित कर पाए? क्या इसका कारण वह सांस्कृतिक आत्मबोध नहीं जिसने हिन्दी प्रदेश की विपुल सर्जनात्मक परम्परा को एक विशिष्ट साहित्यकि इतिहास के रूप में सवांरा?''[75]

हिन्दी नवजागरण की अपनी विशोषताएं है, वह बंगाल या गुजरात के नवजगरण से भिन्न है। जो भारतेन्दु युग से ही अपनी अलग पहचान बना रहा था। द्विवेदी जी की युगान्तकारी भूमिका यह है कि उन्होने वैज्ञानिक ढंग से अनेक समसामायिक समास्यओं का विवेचन गहराई से किया। उन्होने हिन्दी क्षेत्र में चेतना का संचार करने के लिए ज्ञान–विज्ञान का अनुवाद कर दृष्टिकोण में परिवर्तन किया। इस प्रकार समसामायिक विचार धाराओं से लोगों को जोड़े रखा।

छायावादी साहित्य द्विवेदी युग के प्रति विद्रोह का साहित्य माना जाता है। परन्तु निराला ने अंग्रेजी राज, जमींदारी प्रथा, किसान आंदोलन, वर्णाश्रम धर्म, नारी की पराधीनता, भाषा की समस्या आदि पर जो कुछ लिखा है, इससे स्पष्ट है कि यह द्विवेदी युग की अगली कड़ी है। कहा जाता है कि छायावाद पर रहस्यवादी विचार का प्रभाव था। परन्तु नवजागरण के विस्तृत संदर्भ में यह प्रभाव अस्थाई सिद्ध हुआ – निराला के 'देवी' और 'चतुरी चमार', प्रसाद के 'तितली' और पंत के 'रूपाभ' में इसकी तिलांजली स्पष्ट दिखती है। इसतरह जो नवजागरण 1857 के स्वाधीनता संग्राम से उपजा, वह भारतेन्दु युग में व्यापक बना, उसकी साम्राज्य विरोधी, सामन्त विरोधी

---

[75] डा. पुरूषोत्तम अग्रवाल,– तीसरा, पृ–101

प्रवृत्तियां द्विवेदी युग में और पुष्ट हई। फिर निराला के साहित्य में कलात्मक स्तर पर तथा उनकी विचारधारा में ये प्रवृत्तियां क्रांतिकारी रूप में वृयक्त हई।

समाज सुधार आन्दोलन के माध्यम से हिन्दी नवजागरण समाज का ढाँचा ही बदलना चाहता था। प्रथम सामाजिक परिवर्तन की बात बंगाल व महारष्ट्र से शुरू हई। महाराष्ट्र में यह अपेक्षाकृत अधिक सफल रहा क्योंकि ज्योतिषफुले, जी. मावलंकर, जी. एस. देशमुख, आर. भण्डारकर, रानाडे और डा. अम्बेडकर जैसे सुधारकों ने अस्पृश्यों के बीच व्यापक चेतना का प्रसार किया। इससे भिन्न हिन्दी नवजागरण के अन्तरगत दलित अस्मिता का विकास बहुत हद तक मर्यादावादी दृष्टिकोण से हुआ। भारतेन्दु की रचनाओं में जाति व्यवस्था का विरोध तो है, मगर इसका ढंग तीव्र नहीं है। यह उस दौर की अपनी सीमा है। वैष्णवता संबंधी विचारों से भी इसमें बाधा उत्पन्न हुई। इसलिय भारतीय नवजागरण का राष्ट्रीय चेतना के हिन्दी क्षेत्र में सूत्राधार भारतेन्दु की रचनाओं में सामाजिक चतेना उतनी प्रखर नहीं है।

प्रतापनारायण मिश्र की रचनाओं में भी भारतीय परम्परागत समाज व्यवाथा के प्रति आक्रोश का भाव नहीं मिलता है। बल्कि उन्होंने सलाह दी "परमेश्वर करें पुरानी चाल सबको भली प्रकार से प्यारी लगने लगे और ब्राह्मण, वेद, पुराण, इतिहास नीति के पठन–पाठन में प्रीति करे। क्षत्रिय मात्र विद्या और वीरता के नाम मरें। वैश्य देश–देशान्तर में गमन करते हुए कृषि–वाणिज्यवाद का प्राण धरे। शूद्र लोग बाबू बनने का चाव छोड़ सरलभाव से अन्य वर्णों की सेवा और अपनी अपनी जाति के परम्परा के अनुसार नाना प्रकार का शिल्प सुधार करके देश–भाइयों के प्रयोजनीय पदार्थों का अभाव हरे।"[76] मिश्र जी के प्रसिद्ध पत्र का नाम 'ब्राह्मण' था। इसमे भी उनकी दृष्टि का पता चलता है। इसी ओर संकेत करते हुए डा. मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है "हिन्दी नवजागरण का तथाकथित बुद्धिवाद जातिप्रथा जैसी खूंखार शोषक और दमनकारी सामाजिक व्यवारथा का सामना करने से बचता रहा है। यही नहीं हिन्दी नवजागरण की प्रगतिशीलता जाति प्रथा के सामने कुंठित नजर आता है। सच बात तो यह है कि हिन्दी नवजागरण के अनेक अग्रदूत घूमा–फिराकर जाति–व्यवस्था का समर्थन ही करते हैं। यह अकारण नहीं कि हिन्दी नवजागरण के काल में अधिकांश सवर्ण जातियों के नाम से पत्र–पत्रिकाएं निकलती रही।"[77] यह दृष्टिकोण हिन्दी नवजागरण की सीमाओं को स्पष्ट ढंग से रेखांकित करता है।

---

[76] डा. एन. सिंह, (सं)–शिखिर की ओर पृ. 415
[77] डा. मैनेजर पाण्डेय का साक्षात्कार,–युद्धरत आम आदमी, पृ 138

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने एक बार कहा था "हमारी समस्याएं सामाजिक और सांस्कृतिक है, राजनैतिक नहीं।"[78] मगर हिन्दी नवजागरण में इन दोनों बातों पर शायद उतना ध्यान नहीं दिया गया, जितना बंगाल और महाराष्ट्र में। यह हिन्दी नवजागरण की सबसे बड़ी कमजोरी रही। इस संबंध में पी. सी. जोशी ने कहा है "यह कैसा विरोधाभास है कि जिस भूमि ने बुद्ध को जन्म दिया और उनके द्वारा ब्राह्मणवाद और वर्णव्यवाथा को सबसे बड़ी चुनौती दी, जिस भूमि ने भक्ति आन्दोलन को जन्म दिया, जिसने अपने युग को सबसे बड़े क्रांतिकारी कबीर को जन्म दिया... रैदास, नानक पैदा हुए, उसी भूमि पर सांस्कृतिक प्रतिक्रांति को किन कारणें से और इसे इतना भयावह रूप दिया।"[79]

महाराष्ट्र और बंगाल के नवजागरण में जातिव्यवस्था के विरूद्ध जो आक्रोश और तीव्रता हम देखते हैं उसका लेश–मात्र भी हमें हिन्दी नवजागरण में नहीं दिखाई पड़ता है। विवेकानन्द की इस भाविष्यवाणी कि "बीसवीं सदी दलितों के उत्कर्ष का काल होगा और इसे कोई नहीं रोक सकता"[80] की गूँज कहीं सुनाई नहीं देती है। यह आगामी समय में दलितोत्थान का पूर्वाभास है, फिर भी हिन्दी नवजागरण इससे अछूता रहा।

बंगाल और महारष्ट्र की तरह हिन्दी नवजागरण में सुधार कार्यक्रम समाज सुधारकों ने नहीं, बल्कि लेखकों ने किया। यहां ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज, यंगबंगाल जैसी समाज सुधार संस्थाएं नहीं थी। हिन्दी क्षेत्र में ले–देकर यह कार्य 'आर्य समाज' के ही जिम्मे था। इसलिए हिन्दी के अधिकांश लेखकों ने अतीतोन्मुख और परम्परागत वैदिक विचारों का ही समर्थन किया। जाति–व्यवास्था को वर्णाश्रम धर्म के फ्रेम में बांधकर ही उसकी बुराइयों की आलोचना करते हैं। आर्य समाज आन्दोलन ने स्त्री शिक्षा की बात की, मगर वह भी एक मर्यादा-के-भीतर थी। आर्य समाज एक लोकप्रिय आंदोलन खड़ा करने के बाद भी हिन्दी क्षेत्र के बौद्धिक वर्ग को प्रभावित नहीं कर सका। नामवर सिंह के शब्दों में "उनकी भूमिका का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के बड़े हिन्दी क्षेत्र के लेखकों में से एक भी उनसे प्रभावित न हो सका। स्वयं भारतेन्दु, दयानंद की अपेक्षा बंगाल के केशव चन्द्र सेन को श्रेयस्कर समझते थे।"[81] क्या इसका कारण आर्य समाज का 'शुद्धि आन्दोलन' या? वैसे इसने हिन्दी क्षेत्र के साम्प्रदायिक सौहार्द की भावना को काफी हद तक नष्ट कर दिया। इसके बाद हिन्दी क्षेत्र का नवजागरण दो भागों में बंट

---

[78] उद्धृत हंस – संपादकीय, अक्टूबर 1986 – पृ. 4
[79] पी. सी. जोशी,–अवधारणाओ का संकट, पृ–38
[80] ए. आर. देसाई – भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठिभूमि , पृ. 205
[81] आलोचना (त्रैमासिक), उपन्यास अंक (64–65), जनवरी–जून 1983, पृ. 6

गया – हिन्दू और अधिक हिन्दू तथा मुसलमान और अधिक मुसलमान हो गए। इसी प्रकार शूद्रों की समानता का जो नारा आर्य समाज ने दिया, वह काफी हद तक खोखला सिद्ध हुआ। क्योंकि वह वर्णाश्रम धर्म की श्रेष्ठता को त्याग नहीं सका।

इस दौरान हिन्दी क्षेत्र में 'शिव नारायण संप्रदाय' नाम से एक आंदोलन दलितों के बीच आरम्भ हुआ। अवध क्षेत्र के इस आंदोलन ने चमार जाति को अपने आस–पास इकट्ठा किया। मगर यह आन्दोलन वाद में उनके लिए क्षत्रिय स्थिति की मांग करके –सांस्कृतिकरण' की प्रक्रिया से गुजरकर समाप्त हो गया। इसने दलितों के शोषण के विरूद्ध चेतना जगाने का अपना मूल लक्ष्य ही छोड़ दिया। 'सनातन धर्म सभा' और 'हिन्दू महासभा' के आंदोलन तो पूरी तरह से परम्परागत थे ही।

यह घोर आश्चर्य और चिंता की बात है कि अपनी समृद्ध परम्परा के बाद भी हिन्दी क्षेत्र दकियानूसी विचारों का गढ़ बना रहा; तथा इस क्षेत्र में स्त्रियों और दलितों की स्थिति के बारे में हम आज तक कबीर से आगे कुछ नहीं सोच पाए हैं। तमाम महिमामंडन के बाद भी आज हमें एक पिछड़े समाज के रूप में देखा जाता है। जहां हर क्षेत्र में असमानता दखाई देती है और इसके सबसे अधिक शिकार कदाचित दलित और स्त्रियां है।

हिन्दी नवजागरण के अन्तर्गत बाद में प्रेमचन्द, निराल, राहुल आदि की रचनाओं में दलितों की समस्याओं पर गंभीरतापूर्वक विचार किया गया है। क्योंकि हिन्दी साहित्य का मूल स्वर मुक्ति की आकांक्षा से प्रेरित था, इसलिए इन रचनाकारों के यहां भी मुक्ति की आकांक्षा दलितों के सामाजिक बंधनो से मुक्ति के रूप में मिलती है। इनके लेखन में सामाजिक चेजना की नई अभिव्यक्ति सामंत विरोधी चेतना के रूप में मिलती है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि जिस नवजागरण की चेतना का उदय भारतेन्दु युग से आरम्भ हुआ था, उसी चेतना का स्वर अपने परवर्ती दौर में बहुत प्रगतिशील दिखाई पड़ता है। इस दौरान सामाजिक और धार्मिक रूढ़ियों के विरुद्ध प्रतिरोध का स्वर पहले से तीव्र था। आज हिन्दी क्षेत्र में जो दलित उभार हम देख रहे है, उसकी नींव इस दौरान पड़ गई थी। जिस अतीत के पतन पर मैथिलीशरण गुप्त ने आंसू बहाया है, बाद में उसी को भारतीय समाज की इस पतनशील स्थिति का कारक बताया गया। यह हिन्दी नवजागरण के प्रगतिशील स्वरूप का परिचायक है जिसकी रचनात्मक अभिव्यक्ति हम प्रेमचन्द और निराला तथा बाद में राहुल की रचनाओं में व्यापक रूप से पाते हैं।

4. उपन्यास का उदय और सामाजिक प्रश्न

अंग्रेजो के अगमन से जहाँ भारत की राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक परिस्थितियों में परिवर्तन हुआ, वहाँ देश की सामाजिक परिस्थितियों को बदलना स्वाभाविक ही था। पाश्चात्य उदारवादी विचारों से भारतीयों की नींद टूटी और अपने देश को विदेशियों के अत्याचारों से मुक्त करने की भावना पनपने लगी। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध एवं बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में भारत केवल राजनीतिक दृष्टि से ही पराधीन नहीं था वरन सामाजिक दृष्टि से भी बहुत पिछड़ा हुआ था वर्णाश्रमधर्म और जाति व्यवस्था अपने बिगड़े रूप में, "हिन्दू समाज को रसातल ले जाने वाली, पैर में बंधी चक्की के समान बन चुकी थी"[82]। बाल – विवाह, अनमेल विवाह, सतीप्रथा का उस समय जोर था। उस समय छुआ–छूत का विचार अनौचित्य की चरमसीमा तक पहुँच चुका था, वे सभी मानवीय अधिकरों से वंचित थे।

यह वर्ग अतीत से ही अपने से ऊँचीं जातियों द्वारा उपेक्षित होने के कारण हिन्दू समाज में बिल्कुल जड़, निष्क्रिय और प्रतिभाहीन हो गया था। किन्तु नई परिस्थितियों में नवीन शिक्षा के प्रचार से सामाजिक बुराइयों को चुनौती दी जाने लगी। जाति व्यवस्था और अस्पृश्यता के खिलाफ आंदोलन आरम्भ हो चुके थे। आधुनिक उद्योग एवं व्यापार के विकास के साथ – साथ लोग अपने परम्परागत पेशों को छोड़कर मीलो, खानो और दफ्तरों में काम करने लगे। रेल के विकास ने पवित्रता – अपवित्रता के मानदण्ड को समाप्त कर एक साथ ला दिया। 1850 में जाति व्यवस्था पर कानूनी प्रतिबंध लगा दिया गया था।

भारतेन्दु युग उपन्यास के उदय का काल है। प्रथमतः इस ओर भारतेन्दु का ध्यान गया। वे पहले लेखक थे जिन्होनें राष्ट्रीय संवेदना के साथ जीवन के यर्थाथ का चित्रण प्रारम्भ किया। उन्होने 'पूर्णप्रकाश और 'चन्द्रप्रभा' नामक उपन्यास लिखा। यद्यपि यह मराठी से अनुदित माना जाता है तथापि यह तत्कालीन सामाजिक उपन्यासों की और लेखकों का ध्यान आकृष्ट करता है।

हिन्दी में अंग्रेजी ढंग का पहला भौलिक उपन्यास लाला श्रीनिवास दास कृत **'परीक्षा गुरू'** (1882) को माना जाता है। मध्यवर्गीय समाज एवं जीवन का यर्थाथ और विस्तृत चित्रण हमे 'परीक्षा' गुरू "में उपलब्ध है। यह उपन्यास नवजागरण का संदेश देता है। 'परीक्षा गुरु ' द्वारा चलाई गई सामाजिक उपन्यासों की श्रृंखला का आगे चलकर और विकास हुआ। 19वीं सदी में सामाजिक, नैतिक, धार्मिक दृष्टिकोण को लेकर कितने ही उपन्यास लिखे गए। इन उपन्यासों में

लेखकों की युग – जीवन के प्रति सजगता के दर्शन होते हैं। इन लेखकों में मेहता लज्जाराम शर्मा, का नाम सर्वोपरि है। इनके अतिरिक्त किशोरी लाल गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट, राधाकृष्ण दास, अयोध्यासिहं उपाध्याय, कार्तिक प्रसाद खत्री प्रमुख हैं।

तत्कालीन समाज की समस्या की ओर प्रत्येक लेखक का ध्यान गया। इस युग के उपन्यासकारों ने सामज की दशा को अपनी ऑखों से देखा और इसका यथार्थ चित्रण उपन्यासों में किया, हॉ इतना अवश्य है कि उनमें हमें भारतेन्दु की सी दृष्टि नहीं मिलती। एक बात और जो इन सामाजिक उपन्यासों में विशेष रुप से हमारा ध्यान आकृष्ट करती है कि समाज में प्रचलित रूढ़ियों के प्रति यद्यपि उस समय के लेखक के मन में गहरा असंतोष था, इन कुरीतियों के विरोध में वह लम्बे – लम्बे भाषण भी देता है, तथापि उन्हें तोडने के साहस का उसमें अभाव हैं। इन थोथी सामाजिक मान्यताओं के विरुद्ध वह सीना तानकर खड़ा हो सके – ऐसी शक्ति उसमें कहीं परिलक्षित नहीं होती। यही कारण है कि इन समस्याओं पर ध्यान देते हुए भी उपन्यासकार की वाणी कुछ दबी – दबी सी रहती है। उसे भय है कि कहीं पुराणपंथी रुष्ट न हो जाएं, कहीं वह भारतीय संस्कृति के विरोध में न कुछ कह बैठे।[83] इसलिए समस्या का अतं अधिकांशः भाग्य या कर्मगति पर छोड़ दिया गया है।

यूँ तो हिन्दू धर्म और संस्कृति का चित्रण सभी उपन्यासकारों ने किया है, पर लज्जाराम शर्मा मेहता, किशोरी लाल गोस्वामी, व्रजनन्दन सहाय तथा हरिऔध उनमें प्रमुख है। मेहता और गोस्वामीजी को सनातन धर्म का प्रमुख उन्नायक भी माना जाता है ये लोग एक ओर तो धार्मिक रूढ़ियों और कुरीतियों का वर्णन करते हैं और दूसरी ओर उसे प्रकारन्तर से जीलाए भी रखना चाहते हैं। मेहता जी अपने उपन्यास 'आदर्श हिदू (1915)', 'आदर्श दम्पत्ति' (1904)', 'हिन्दू गृहस्थ (1904)', 'बिगड़े का सुधार (1907)', 'परतन्त्र लक्ष्मी (1899)' आदि में सनातन धर्म का ढिढोरा पीटा है। मेहता ने 'भाग्य और कर्मफलवाद' ("जब आप पुनर्जन्म मानते हैं, पूर्व जन्म को शुभ – अशुभ फलों से ऊँच और नीच जाति जन्म ग्रहण करना मानते हैं। तब आप कैसे इसे नहीं मान सकते है" मेहता – आदर्श हिन्दू भाग – 1, पृ. . 10)। पर अधिक जोर दिया। वे जाति और धर्म को जन्म से संबद्ध मानते हैं। देवकी नन्दन भी नैतिकता ओर कर्मफलवाद पर जोर देते हैं। उन्हानें हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता दिखाने का प्रयत्न किया (चन्दकान्ता संतति)। गोपाल गहमरी जैसे लेखक में भी कठोरता दिखती है। किशोरी लाल गोस्वामी अपनी संकुचित दृष्टि के कारण सनातन धर्म के

---

[82] ए. आर – देसाई – भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठिभूमि पृ. 399
[83] कुँवर पाल सिंह – हिन्दी उपन्यास : सामाजिक चेतना, पृ. 115

एजेन्ट (" उन्हें संसार की सभी बातों में हिन्दुओं को सबसे श्रेष्ठ और हिन्दूधर्म को सबसे प्राचीन और प्रधान मानना पड़ेगा – वे सनातन धर्म के उद्धार में तत्पर होकर अपने देश वालों की मूर्खता को दूर करेंगे।" – त्रिवेदी का सौभाग्य, भाग– 1 पृ. 10) लगते हैं। अयोध्या सिंह हरिऔध भी अपने उपन्यास 'अधखिला फूल' में सनातन धर्म का आदर्श प्रस्तुत किया है। व्रजनंदन सहाय उनमें किसी से कम नहीं। वे 'अरण्यबाला' उपन्यास में लिखते है "इन सब सब कामों का मूलधारा तुम्हें धर्म को ही बनाना होगा। इस बात पर सदा ध्यान रखना होगा कि संघ को सांसारिक उन्नति के साथ – साथ आध्यात्मिक उन्नति की ओर भी यथेष्ट ध्यान देना होगा और इसके लिए तुम्हें संस्कृत धर्म का प्रचार करना होगा।"[84]

इस युग के लेखक सामाजिक सुधार की भावना से प्रेरित थे। अतएव उपदेश प्रधान और नीतिपरक उपन्यास की रचना करना अपना धर्म समझते थे, लेकिन इनकी सीमा सनातन धर्म से परे नहीं थी। इसलिए बंगला लेखकों (विशेषकर बंकिमचन्द्र) से प्रभावित होते हुए भी तत्कालीन समस्याओं से तटस्थ होकर अपनी क्षुद्र और संकीर्ण मनोवृत्तियों के कारण भाग्य और कर्म से मुक्त नही हो सके।

अपने उदय के समय वर्ण व्यवस्था सदाशयता पूर्ण रही होगी, लेकिन कालांतर में इसने समाज को जड़ बना दिया। उसको तोड़ने के लिए केवल राजनैतिक कानूनो की इतनी आवश्यकता नहीं थी, जितनी राष्ट्रव्यापी सामाजिक चेतना की। यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं कि प्रेमचन्द पूर्वकाल के समूचे साहित्य में इस दिशा में किए गए प्रयास नगण्य है। "उपन्यासकारो के पास दलित वर्ग को लेकर कोई कथानक नहीं था। लगता है कि जैसे वर्णव्यवस्था के जन्मजात औचित्य पर कोई भी बुद्धिजीवी ठीक से विचार करने की स्थिति में नहीं था। सुधारवादी उपन्यासकारो ने जहाँ अन्य विषयों पर पर्याप्त लेखनी चलाई है, वहाँ वे इस विषय पर मौन ही रहे जबकि यह समस्या भारतीय समाज की जटिलतम समस्या थी।[85] इस समस्या के दो पहलू है, एक ओर जटिल जाति व्यवस्था तो दूसरी ओर अस्पृश्यता। वे लेखक जो आर्य समाज अथवा आधुनिक शिक्षा पद्धति से प्रभावित थे, इस समस्या पर (किसी संदर्भ में) हल्का सा प्रकाश डालने का प्रयास किया है। 'काशी यात्रा' उपन्यास का लेखक स्वामी दयानन्द को सभी सामाजिक रोगों का उपचारकर्त्ता वैद्य धोषित करते हुए जिन सामाजिक रोगों की चर्चा करता है, उनमें जाति प्रथा भी एक है।

---

[84] व्रजनन्दन सहाय – अरण्यबाला, पृ. 327

[85] ए. आ. देसाई – भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठिभूमि, पृ. 244

इस युग में प्रतिगामी विचारों के पोषक मेहता लज्जाराम शर्मा ने सभी प्रगतिशील मान्यताओं पर बड़ी तत्परता से सनातन धर्मी लीपा – पोती की है। वर्ण व्यवस्था को भी अपने लेखन का मुद्दा बनाने से वे नहीं चुके। अमानवीय सीमा तक वे वर्ण – व्यवस्था के कटटर पक्षपाती थे। 'आदर्श हिन्दू' का नायक प्रियानाथ रेल में अपने एक सहयात्री से इस निर्णय पर तर्क करता है और यह प्रतिपादित करने का प्रयास करता है कि जन्म के आधार पर जो वर्ण व्यवस्था है उसे यथावत रहने देना चाहिए। यदि हीन वर्ण के लोग उच्च वर्ण वालों की भांति शिक्षित हो जाएंगें तो समाज में अराजकता फैल सकती है ("यदि आपने उनका पेशा छुड़ाकर उन्हें वर्णों में संयुक्त कर लिया तो किसी दिन आप को नाई, धोबी, भंगी चमार मिलेंगे। उस समय आपको उन लोगों की जगह लेनी पड़ेगी। इस कारण उन्नति के बहाने से हिन्दू समाज में अधर्म का गदर न मचाइए। इसलिए ब्राह्मणों को ब्राह्मण ही रहने दीजिए। उनसे जूता सिलवाने का काम न लीजिए। यदि उनमें कोई गिर गया हो तो उस पर लाते।न मरिए"। मेहता – आदर्श हिन्दू , पृ. 234 – 35) 'काशी यात्रा' के पात्र प. शिवशंकर की मनोवृतियां जाति दम्भ से ग्रस्त ब्राह्मण का एक अच्छा चित्र पाठकों के सम्मुख उपस्थित करता है। एक प्यासे शूद्र द्वारा पानी मांगने पर वे उसे पानी देने के स्थान पर दुत्कारते हैं और पत्थरों से मारने की धमकी देते हैं। यही शिवशंकर अपने भतीजे रामनारायण से स्थान – स्थान पर सुधारवादी दृष्टिकोण पर विवाद करते हैं। स्वामी विश्वेश्वरानंद सरस्वती ने अपने आख्यान संकलन 'चतुरा की चतुराई' में समाज एव राज्य की आदर्श व्यवस्था पर अपने सुधारवादी विचार व्यक्त किए हैं। वर्णव्यस्था के संदर्भ मे उनका मत है "शूद्र यदि बुद्धिमान गुण ग्रहण करने योग्य है तो वह भी ब्रह्मचर्य का पालन कर विद्याभ्यास करे"[86]। यद्यापि स्वामी जी का दृष्टिकोण पुनरूत्थान से अधिक प्रभावित हैं फिर भी इस काल में ऐसे विचारों का पाया जाना कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। आदर्श राज्य व्यवस्था के अन्तर्गत पायी जाने वाली समाज व्यवस्था में प्रतिभा का समुचित आदर होना चाहिए। 'चतुरा की चतुराई' में ही स्वामी राजा शूरसेन के शासनकाल का दृष्टान्त देते हुए बतलाते है "तात्पर्य ये है कि उसके राज्य में गुण, कर्मानुसार ही वर्ण पर अधिकार दिया जाता था नीच जाति वाले भी थोड़ा बहुत अवश्य पढ़ना जानते थे।"[87]

प्रेमचन्द – पूर्व के उपन्यासों की पूरी छानबीन के पश्चात यही निष्कर्ष उभर कर सामने आता है कि जातिप्रथा के संदर्भ में उस काल में कोई उल्लेखनीय सुधार न तो घटित हुआ और न

---

[86] स्वामी विश्वेश्वरानन्द सरस्वती – चतुरा की चतुराई (उद्धत कथाक्रर्म, नवम्बर 2000, पृ, 44), पृ. 6
[87] स्वामी विश्वेशरानंन्द सरस्वती – 'चतुरा की चतुराई' (उद्धत, कायाक्रम,) पृ. 12

सुधारवादी वर्ग में उसके प्रति कोई विशेष उमंग थी। वास्तव में इस क्षेत्र के विरूद्ध सारा संघर्ष एक व्यापक स्तर पर प्रथम विश्वयुद्ध के उपरान्त ही संभव हो सका।

हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासकार उपन्यास – कला के समुचित ज्ञान के अभाव में पूर्ण रूप से सफल भले ही न रहे हों लेकिन इनका दृष्टिकोण स्वस्थ रहा है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह युग हिन्दी उपन्यासों का आरम्भिक युग था। रीतिकाल के साहित्यिक संस्कार अभी विद्यमान थे, सामाजिक चेतना का अभी उदय नही हुआ था। इसलिए इनमें समाज और जीवन का यर्थाथ और प्रभावशाली चिन्ह नहीं उपस्थित हो सका। लेकिन साहित्यिक दृष्टि से इन उपन्यासकारों का वही महत्व है जो भवन निर्माण में नीव का होता है। वस्तुतः इस युग के उपन्यासकारों ने वह ठोस आधार भूमि निर्मित कर दी जिस पर आगे चल कर प्रेमचंद, प्रसाद, निराला तथा अन्य नई इमारतें खड़ी कर सके और इन सामाजिक समस्याओं को नवीन दृष्टि प्रदान कर उनमें गहरी संवदेना भरने में समर्थ हो सके।

प्रेमचन्द के आगमन से हिन्दी साहित्य में नया मोड़ आया उनकी सामाजिक चेतना और जीवन दृष्टि इतनी गहरी और व्यापक थी कि उनके युग को 'प्रेमचन्द युग' नाम दिया गया। यह युग संक्रांति का युग था, प्राचीन परम्पराओं एवं मान्यताओं का अंत हो रहा था। वे एक सामाजिक उपन्यासकार थे। उनकें उपन्यासों में तत्कालीन समाज व्यवस्था की नंगी संच्चाईयां चित्रित हैं। उनकी सबसे बडी क्रांतिक्रारी देन यह थी कि उन्होने उन व्यक्तियों को कथा का केन्द्र बनाया जो कि साहित्य और जीवन की परिधि से बाहर समझें जाते थे।

प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती उपन्यासकारों में दलित वर्ग को कोई सहानुभूति भी प्राप्त नही हुई वरन् किशोरी लाल गोस्वामी व लज्जा राम मेहता ने तो अपने उपन्यासों में यह मत प्रतिपादित किया कि अछूतों के अछूत बने रहने में ही समाज का हित हैं। प्रेमचन्द पहले उपन्यासकार थे जिन्होंने दलित वर्ग को लेखकीय न्याय प्रदान किया। जिन अर्थो में उपन्यास को आधुनिक जीवन का महाकाव्य कहा जाता है उसकी सही अभिव्यक्ति प्रेमचन्द के समय में होती है।

साहित्य की अन्य विद्याओं की तुलना में उपन्यास में मनोरंजन का तत्व कम और मानव जीवन को उसकी बहुमुखी छवि के साथ व्यक्त करने की शक्ति और अवकाश कहीं अधिक होता है। प्रेमचन्द पूर्व के उपन्यासों में मनोंरंजन की प्रधानता तो मिलती है लेकिन मानव जीवन और समाज की सच्चाई कम ही नजर आती है। उपन्यास मानव जीवन का गद्य है – ऐसी पहली कला है जो सम्पूर्ण मानव को लेकर उसे अभिव्यक्ति प्रदान करने की चेष्ठा करती है।

अध्याय – द्वितीय

प्रेमचंद युगीन हिन्दी उपन्यास और दलित समाज

1. सामाजिक राजनैतिक विमर्श में दलित

राष्ट्र निर्माण में सामाजिक व्यवस्था की अहम भूमिका होती है। देश किस दिशा में आगे बढ़ेगा सामाजिक व्यवस्था इसका एक बड़ा निर्धारक तत्व है। भारत की सामाजिक व्यवस्था जाति प्रथा पर आधरित है। जाति प्रथा की कोई सर्वमान्य परिभाषा नहीं है। यह हिन्दू धर्म की सामाजिक संरचना है। सदियों से इस देश के लोगों की जीवन शैली और सोच का आधार जाति व्यवस्था है। यहां का प्रत्येक व्यक्ति आवश्यक रुप से किसी न किसी जाति का सदस्य होता है। यहां के लोगों का आर्थिक स्तर और ज्ञान भण्डार बदलता रह सकता है लेकिन एक बार जिस जाति की मुहर लग गई वह कभी नहीं बदल सकती।

हिन्दू समाज की जाति व्यवस्था कोई साधारण रीति–रिवाज या प्रथा नहीं है, वह गुलामी की सम्पूर्ण व्यवस्था है। "उसका प्रभाव व्यक्ति के शरीर से लेकर आत्मा और जन्म से लेकर मृत्यु तक बना रहता है। उसमें दलितों की देह और आत्मा की आजीवन गुलामी जैसी क्रूर व्यवस्था है। वैसी दुनियां में कहीं और कोई दूसरी व्यवस्था नहीं हैं। यह जाति व्यवस्था रबर से भी लचीली और इस्पात से भी अधिक मजबूत है। वह भारतीय समाज के इतिहास की प्रत्येक अवस्था के अनुरुप बनकर आज तक जीवित है। वह जनपदीय–सामंतीय और पूँजीवादी अवस्था में जीवित रही है।"[1] इसमें इतनी ताकत है कि इस देश का कोई अन्य धर्म और संस्था इससे अछूती नहीं रह पाती। भारत में जितने भी विदेशी समूह आए वे सभी या तो इस सामाजिक व्यवस्था के अभिन्न अंग हो गए और नहीं तो अलग अस्तित्व रखते हुए भी इस प्रथा को उन्होंने अंगीकार कर लिया। इस वजह से इस देश के दूसरे धर्मों में भी जातियां पायी जाती हैं।

जाति व्यवस्था जितनी पुरानी है, उसके विद्रोह की परम्परा भी उतनी ही पुरानी है। भारतीय समाज व्यवस्था की परम्परा का आदि विद्रोही शम्बूक था, जिसकी हत्या मर्यादा पुरुषोत्तम

---

[1] रमणिका गुप्ता (सं.)– दलित चेतना सोच, पृ. 1

राम ने की। परन्तु ब्राह्मणवाद के प्रति समूल और सम्पूर्ण विद्रोह चार्वाक दर्शन ने किया, जिसे लोकायत भी कहा जाता है। चार्वाक दार्शनिकों ने परलोकवाद, आत्मवाद और वर्णाश्रम व्यवस्था का खण्डन किया। उनके अनुसार दूसरे कर्मकाण्ड बुद्धि और पौरुष से हीन पुराहितों की जीविका के साधन मात्र है; और कुछ नहीं। चार्वाक दर्शन के आचार्य बृहस्पति ने ब्राह्मणधर्म के मूलाधार पर चोट करते हुए कहा कि तीनों वेदों की रचना करने वाले पाखण्डी, धूर्त और निशाचर है–

त्रयो वेदस्य कन्तारों भण्डधूर्त निशाचरः।
जफेरी तुर्फरीत्यादि पण्डिता वचः स्मृतम्।।[2]

बुद्ध पहले व्यक्ति थे जिन्होंने ढाई हजार वर्ष पूर्व वर्णव्यवस्था पर जबरदस्त प्रहार किया। "श्रावस्ती प्रवास के दौरान सुनित नामक शोषित भंगी को अपने संघ में शामिल करके गौतम बुद्ध ने दलितोद्धार का ऐतिहासिक कदम उठाया।"[3] इससे ब्राह्मणवादी हिन्दू समाज में तूफान आ गया और सभी स्तरों पर उसकी धार को कुंद कर दिया गया। इसके बाद मध्यकाल के संत कवियों– कबीर, रैदास, नानक आदि ने इस अमानवीय व्यवस्था के प्रति विरोध व्यक्त किया। लेकिन भक्ति काल में राजनीतिक स्तर पर इस व्यवस्था का विरोध नही हुआ, जो विरोध हुआ भी वह सामाजिक और सांस्कृतिक स्तर पर ही हुआ। संत रविदास का यह कहना कि 'मन चंगा तो कठौती में गंगा'–व्यवस्था के प्रति विद्रोह की ही अभिव्यक्ति है।

आधुनिक भारत में दलित आंदोलन की शुरुआत सबसे पहले महाराष्ट्र और दक्षिण भारत में हुई और इसका मुख्य उद्देश्य समाज के उन तबकों को मानवाधिकारों के साथ–साथ सामाजिक और राजनैतिक अधिकार दिलाना था। मूलतः यह दलित आंदोलन न होकर दलित और पिछड़े लोगों का सामाजिक अभियान था। यह मुख्यतः उन्ही वर्गों के बीच से आए लोगों की जागृति का परिणाम था– महाराष्ट्र में ज्योतिबा फुले, आंध्र में एरिगे राधास्वामी और तमिलनाडु में पेरियार इन आंदोलनों के जनक थे। इन लोगों ने इस बात पर जोर दिया कि जो अछूत और अस्पृश्य है उनकों आत्मसुधार कर अपनी जीवन शैली में इस तरह का बदलाव लाना चाहिए कि सामाजिक स्तर पर उनकी और अधिक स्वीकृति हो सके। धीरे–धीरे इस आन्दोलन से जुड़े अधिकांश लोगों ने

---

[2] रमणिका गुप्ता (सं.) – दलित चेतना सोच, पृ. 3
[3] डा. अम्बेडकर : सम्पूर्ण वाग्ड.मय, भाग, 9, पृ. 115

यह महसूस किया कि उन्हें राजनीतिक स्तर पर भी सक्रिय होना चाहिए। उनका विचार था कि अगर उनका राजनीतिक आधार बनेगा तो वे अपने लिए कुछ खास किस्म का प्रतिनिधित्व और सुविधाओं की मांग कर सकते हैं।

लेकिन महाराष्ट्र में ज्योतिबा फुले का ज्यादा जोर सामाजिक सुधार पर ही था। वे पिछड़ी और दलित जातियों यानी शूद्र और अतिशूद्र में एकता के पक्षधर थे। इस दृष्टि से दक्षिण भारत और महाराष्ट्र के दलित आंदोलनों में फर्क रहा। दक्षिण के आंदोलनों में राजनीतिक के साथ–साथ सामाजिक सम्मान भी प्रमुख मुद्दा बना रहा। दक्षिण में एक दुविधा की स्थिति दिखाई देती है एरिगे राधास्वामी और बनसोडे आदि का मत था कि अछूत इसी हिन्दू समाज के अंग है और सुधार आंदोलन इस तरह से हो कि ये सामाजिक व्यवस्था में सम्मान जनक स्थिति प्राप्त कर ले। लेकिन पेरियार आदि का विचार था कि शूद्र वास्तव में अनार्य हैं, और इनके कुछ विशेष अधिकार बनते हैं, अतः हमें सांस्कृतिक और राजनीतिक स्वायत्तता प्राप्त करनी चाहिए।

दलितों को सामाजिक रुप से चैतन्य करने में ज्योतिबा फुले का स्थान सर्वोपरि है। इन्होंने समाज के कमजोर वर्गो को सामाजिक न्याय दिलाने के लिए 1873 में 'सत्य शोधक समाज' की स्थापना की। फुले ने समाज व्यवस्था के सक्रिय विरोध के लिए तीन सूत्रीय कार्यक्रम बनाया–" (1) बौद्धिक स्तर पर इस विषम समाज रचना का विरोध करना (2) पिछड़ी जातियों और दलितों का संगठन और (3) प्रत्यक्ष संघर्ष"।[4] इन तीनों स्तरों पर फुलें ने ब्राहमणवादी समाज व्यवस्था का विरोध करते हुए दलित समाज को उनके अधिकारों के प्रति जागृत किया। दक्षिण में दलितों को राजनीतिक रुप से जागृत करने के लिए विभिन्न संगठन सामने आए। मद्रास में 'न्यायदल' (1917) गठित किया गया। यह प्रथम इतर–ब्राह्मण संस्था थी। कालांतर में रामास्वामी नायकर इसके अध्यक्ष बने। वे सामाजिक समानता के लिए एक धर्मयौद्धा थे। उन्होंने ब्राह्मणवादी व्यवस्था की भर्त्सना की और कहा कि " हिन्दूधर्म ब्राह्मणों के वर्चस्व का एक साधन है और उन्होंने मनु के विधान को अमानुषी तथा पुराणों को परियों की कथाओं की संज्ञा दी"[5] उन्होंने हिन्दू धर्म के संबंध में कहा "कुछ ऐसे तत्व होते हैं जिनका सुधार नहीं हो सकता। उनका केवल अन्त ही करना होता है। ब्राह्मणीय हिन्दू धर्म एक ऐसा ही तत्व है।"[6] केरल में ऐसे ही आन्दोलन का नेतृत्व नारायण

---

[4] जयप्रकाश कर्दम (सं.) –ज्योतब फुलेः गुलामगीरी (अनु. विनलकीर्ति), पृ. 39
[5] बी. एल. ग्रोवर/यशपाल,– आधुनिक भारत का इतिहास, पृ. 399
[6] वही, पृ. 400

गुरु ने किया। उन्होंने गांधी जी के चार्तुर्णीय व्यवस्था के समर्थन पर टिप्पणी करते हुए कहा "जातिय भेद केवल तलीय है। एक विशेष प्रकार के वृक्ष के पत्तों का रस सार रुप से एक ही होगा"[7]। उन्होंने एक नया नारा दिया "मानव के लिए एक धर्म, एक जाति तथा एक ईश्वर।"[8] उनके एक शिष्य ने कहा था "मानव के लिए कोई धर्म नहीं, कोई जाति नही तथा कोई ईश्वर नहीं।"[9]

अम्बेडकर के आने तक दलित आंदोलन अपने अतंर्विरोघों और दुविधाओं से ग्रस्त या और अपने–अपने स्तर पर दलित नेता सामाजिक बदलाव के लिए प्रयत्नशील थे। डा. अम्बेडकर द्वारा 1927 में 'मनुस्मृति' के जलाने[10] के साथ दलित आंदोलन का क्रांतिकारी रुप सामने आता है। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस 1917 तक तो दलितों के साथ अछूत का व्यवहार करती रही लेकिन उसके बाद उसका ध्यान इस ओर गया लेकिन ब्राह्मणवादी दृष्टिकोण हॉबी रहा। गाँधी जी के प्रयास से अस्पृश्यता निवारण को कांग्रेस के रचनात्मक कार्यों में स्थान मिला। फिर भी व्यवहारिक ईमानदारी के अभाव के कारण वह असफल ही रहा। इस कारण डा. अम्बेडकर का मोहभंग हुआ। उन्होंने भारतीय समाज में फैली अमानवीय व्यवस्था से लड़ने के लिए स्वनेतृत्व विकसित करने और आगे आने का आह्वान किया। बाबा साहब ने इसके लिए एक मूल मंत्र दिया– 'शिक्षित हो, संगठित हो और संधर्ष करो।' यह दलितों के लिए ब्रह्मवाक्य था। दलितों को जगाने के लिए अम्बेडकर ने विभिन्न पत्र भी निकाले। इस संबंध में धनंजय कीर लिखते हैं–"अम्बेडकर के सामाजिक और राजनीतिक कार्य क्षेत्र की जो परिणति हुई, बड़ी उद्‌बोधक है। उनके प्रथम पाक्षिक का नाम 'मूकनायक' और चौथे का नाम 'जनता' था। नाम भिन्न थे, लेकिन मत, धेय और सोच में फर्क नहीं था। 'मूकनायक' में उन्होंने बहिष्कृत भारत के दर्शन कराए तो 'समता' में उन्होंने सामाजिक समता का आग्रह किया। 'जनता' इनके आंदोलन की चौथी अवस्था है। हिन्दू समाज में स्वतंत्रता, समता और बंधुता द्वारा एक रुप होने की अस्पृश्य समाज की इच्छा उन्होंने व्यक्त की।"[11]

---

[7] बी. एल. ग्रोवर/यशपाल,– आधुनिक भारत का इतिहास, पृ. 400
[8] ए. आर. देसाई– भारतीय राष्ट्रवाद और सामाजिक पृष्ठिभूमि, पृ. 285
[9] वही, पृ. 286
[10] डा. अम्बेडकरः सम्पूर्ण वाग्ड.मय, –पृ. 129
[11] धनंजयकीर – बाबा सहिब अम्बेडकरः जीवन चरित, पृ. 154

बाबा साहब अम्बेडकर ने संघर्ष की शुरुआत करते हुए प्रथमतः मानवाधिकारों की बात की। क्योंकि हिन्दू समाज में दलितों को सभी मानवीय अधिकारों से वंचित कर दिया गया था। जिस तालाब में जानवर पानी पी सकते थे। उसमें एक दलित पानी नहीं पी सकता था। इससे अधिक अमानवीयता क्या हो सकती है? इस अमानवीयता को तोड़ते हुए 20 मार्च 1927 को चवदार तालाब सत्याग्रह कर इन्सानियत और समानता का संदेश भारत को दिया और 25 दिसम्बर 1927 को हिन्दू समाज व्यवस्था के आधार 'मनुस्मृति' को जलाकर सामाजिक पुर्नरचना के लिए समता पर आधारित नई स्मृति की मांग की। इस तरह डा. अम्बेडकर ने हिन्दू व्यवस्था के मूल पर चोट करते हुए सामाजिक समता की बात की।

दलितों को सामाजिक रुप से आंदोलित कर चुके डा. अम्बेडकर ने राजनीतिक अधिकारों की मांग की। उन्होंने 1928 में साईमन कमीशन के सामने दलितों की सामाजिक राजनैतिक सुरक्षा की मांग करते हुए कहा "भारत की अन्य किसी भी अल्पसंख्यक जाति की अपेक्षा अस्पृश्य वर्ग को राजनीतिक सुरक्षा की अधिक आवश्यकता है। इसका कारण बिल्कुल स्पष्ट है कि अस्पृश्य वर्ग शिक्षा की दृष्टि से पूरी तरह पिछड़ा हुआ है और अन्य किसी भी अल्पसंख्यक वर्ग की अपेक्षा वह वर्ग राजनीतिक दृष्टि से दुर्बल, आर्थिक दृष्टि से दरिद्र और सामाजिक दृष्टि से गुलाम है।"[12] इसके परिणाम स्वरुप डा. अम्बेडकर को देशद्रोही और न जाने क्या–क्या संज्ञाएं दी गई। पर डा. अम्बेडकर ने कहा "जिस राष्ट्र में मेरे अस्पृश्य बंधुओं की मनुष्यता धूलि की भांति रौंद दी जाती है, उस मनुष्यता को प्राप्त करने के लिए उस राष्ट्र का मैं कितना भी नुकसान करुँ, वह पाप न बनकर पुण्य ही सिद्ध होगा। उस राष्ट्र का अगर मैंने नुकसान नहीं किया है या नहीं करने वाला हूँ तो उसका श्रेय हमारी सद्–सद्–विवेक बुद्धि को ही है।"[13] जातिवादी ऐतिहासिक विभेदन से मुक्ति के लिए डा. अंबेडकर ने राजनीतिक स्वायत्तता को महसूस करते हुए गोलमेज सम्मेलन में अछूतों के लिए अलग मताधिकार की मांग की। उन्होंने अपनी मांग को स्पष्ट करते हुए कहा " हिन्दुस्तान में केवल हिन्दू और मुसलमान ही नहीं रहतें ब्रल्कि यहां पर एक ऐसा वर्ग भी रहता है जो कहने को तो हिन्दू है लेकिन न तो उसे हिन्दू मंदिरों में जाने का अधिकार है; न धर्म शास्त्रों को पढ़ने का और न ही किसी भी अनुष्ठान में भाग लेने का। यह वर्ग हिन्दुस्तान की आबादी का बहुत बड़ा हिस्सा है। वह पशुओं से भी बदतर स्थिति में सम्पूर्ण मानवाधिकारों से वंचित होकर

---

[12] धनंजयकीर – बाबा सहिब अम्बेडकरः जीवन चरित, पृ. 115
[13] वही, पृ. 166

जीवन यापन कर रहा है अतः इस वर्ग को स्वतंत्र प्रतिनिधित्व दिया जाय।"[14] अगस्त 1932 में ब्रिटिश प्रधानमंत्री रैमसे मैक्डोनाल्ड दलितों के अलग प्रतिनिधित्व की घोषणा की। गाँधी ने इसको हिन्दू समाज का बंटवारा मानते हुए 'यरवदा' जेल में आमरण अनशन किया और गाँधी के प्राणों की रक्षा करते हुए डा. अम्बेडकर ने पूनापैक्ट समझौता किया। इससे दलितों को आरक्षण के रुप में कुछ अधिकारों की प्राप्ति हुई। इस राजनीतिक आंदोलन की दलित इतिहास में महत्वा इन अर्थों में है कि "जिस अस्पृश्य समाज को भारतीय राजनीति और सामाजिक नीति के मानचित्र में कभी भी प्रतिष्ठा नहीं थी उस अस्पृश्य समाज के नेताओं के साथ एक मंच पर सवर्ण के बराबर ला दिया।"[15]

उत्तर भारत में डा. अम्बेडकर से पूर्व स्वामी अछूतानंद जी अछूतोद्धार और दलितों की सामाजिक–राजनीतिक स्थिति सुधारने के लिए आंदोलन किया। उन्होंने 'अछूत' शब्द को एक नया अर्थ दिया– "द्विज हमें अछूत कहते हैं। अछूत का अर्थ है– जिसमें छूत न हो अर्थात पवित्र। इसी अर्थ में मेरा नाम अछूतानंद है।"[16] उन्होंने दलितों को राजनैतिक अधिकार दिलाने के लिए आदि हिन्दू सभा' का गठन किया। जिसका उद्देश्य था स्वाभिमान, आत्मनिर्भरता और आत्मरक्षा। उन्होंने राजनैतिक अधिकारों की मांग करते हुए कहा " हमारी मांग है कि संस्था के हिसाब से हमारे राजनीतिक अधिकार हमें दे दिए जाय। यह कितने खेद की बात है कि हमारे मुल्की हकों को भी द्विज डकारे बैठे हैं। वे हमारे हकों का हमें ज्ञान भी नहीं होने देते। यदि इन्हें पूर्ण स्वराज मिल जाय तो, शायद मनुवाला कानून फिर चलाकर हमें सिर्फ जूठन, छटकन, फटकन और उतरन को ही हकदार बनाकर रखेंगे.... इसलिए अछूत संगठित होकर अपने मुल्की हकों को हासिल करे।"[17] यह उत्तर भारत की दलित जनता के लिए उद्घोष था। अछुतानंद जी ने 1922 में भारत आए राजकुमार वेल्स को अछूतों की तरफ से 17 सुत्रीय मांग प्रस्तुत की। जब साइमन कमीशन भारत आया तो अछुतानंद, अम्बेडकर की प्रेरणा से उत्तर भारत के प्रतिनिधित्व करते हुए आयोग के समक्ष दलितों की मांगों को रखा।

---

[14] धनंजयकीर – बाबा सहिब अम्बेडकरः जीवन चरित, पृ. 140
[15] वही, पृ. 143
[16] जयप्रकाश कर्दन, (स.) –दलित साहित्य वार्षिकी, 1999, पृ. 68
[17] जय प्रकाश कर्दम (सं.) – दलित साहित्य वार्षिकी, पृ. 68

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान सदियों से दबाए गए दलित सामाजिक और राजनीतिक रुप से जागृत हुए और अपने हक की लड़ाई स्वयं लड़ते हुए अपनी उपस्थिति दर्ज कराई। उनमें फुले, अम्बेडकर, पेरियार और अछूतानंद जी के प्रयासों से स्वचेतना का विकास हुआ है।

2. हिन्दी क्षेत्र में दलित आत्म चेतना

साहित्य संस्कृति का संवाहक होकर युगीन समय और परिपेश के साथ छाया की तरह चलता रहा है, जैसा युग वैसा साहित्य। इसलिए युग मानस में उठने वाले विचार साहित्य में पाए जाते हैं और उसी में युग–विशेष का परिचय मिलता है। परिवर्तन की लीक जितनी तेजी से साहित्य ग्रहण करता है उतना और कोई नहीं, क्योंकि साहित्य का संबंध मनीषा से होता है जो परिवर्तन की पहली आहट सुनाती है। साहित्यकार अपने आस–पास के वातावरण के अभावों से किसी भी मायने में वंचित नहीं होता। यह बात अलग है कि वह अपनी जातिय अस्मिता एवं वर्ग की अभिजात्य प्रवृति के कारण जातिवाद, अस्पृश्यता, ऊँच–नीच आदि संस्कार जनित धारणा के कारण सामाजिक विषमताओं को गौण मानकर केवल आर्थिक विषमता और विद्रूपताओं का ही चित्रण करता है, और सौहार्द्र–सौमनस्य और शोभन को ही प्रमुख स्थान देता है। यद्यपि इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता है, लेकिन एक बड़े तबके का समाज, साहित्य और अन्य मानवीय अधिकारों से वंचित कर देना कहाँ का न्याय है? यह सर्वविदित है कि साहित्य में प्राचीन काल से ही दलितों की अस्मिता और स्वाभिमान को कोई महत्व नहीं दिया गया बल्कि उनकी साहित्यिक अभिव्यक्ति और संघर्ष की चेतना की दबाने की हर संभव कोशिश जारी रही।

दलित साहित्य के उभार के साथ ही हिन्दी साहित्यकारों में दलित प्रेम जाग गया। उनके अनुसार हिन्दी में दलित चेतना के साहित्य सृजन की एक लम्बी और समृद्ध परम्परा है। परन्तु वे प्रेमचन्द, निराला, नागार्जुन से आगे नहीं बढ़ पाते। आधुनिक काल में कुछ लेखकों – अमृतलाल नागर, गोपाल उपाध्याय, जगदीशचंद, गिरिराज किशोर, रमेशचंदशाह, शिवप्रसाद सिंह आदि ने दलितों को केन्द्र में रखकर उनकी समस्याओं को चित्रित किया। फिर भी प्रेमचन्द की परम्परा का सही अर्थो में निर्वाह नहीं हो सका। एक विडम्बना यह रही कि इन साहित्यकारों के प्रेरणास्रोत ब्राह्मणवादी व्यवस्था के पोषक समाज सुधार और विचारक ही रहे, न कि दलितों के बीच उभरे क्रांतिकारी सुधारकों और परिवर्तनकारी विचारक। क्या यह बौद्धिक और प्रगतिशील ईमानदारी कही

जा सकती है? प्रेमचन्द जैसे समदर्शी लेखक की भाषा और व्याकरण में भी ब्राह्मणवादी पुट दिखाई देता है। उन्होंने ब्राह्मण और चमार का वर्णन करते हुए लिखा है–"मंगलपुर ग्राम में एक अति दरिद्र ब्राहमण रहते थे।" तथा चमार के लिए "साधूपुर गाँव में एक चमार रहता था।"

साहित्य सृजन की इस परम्परा में जो वर्ग इसका उपजीव्य रहा उस वर्ग में आत्मचेतना समय–समय पर प्रस्फुटित होती रही। भारतीय साहित्य में पहली बार अश्वघोष की वज्रसूची इसके योद्धाओं को ब्राह्मणवाद के विरुद्ध एक बज्र सा सुदृढ़ शस्त्र सौंपती है। वाणभट्ट और मयूरभट्ट के समतुल्य ख्याति लब्ध शुद्र कवि 'मातंग'[18] का संस्कृत साहित्य में नामोनिशान तक नहीं है। इससे भी पूर्व गौतम बुद्ध के क्रांतिकारी तेवर को लेकर एक बार फिर नाथ–सिद्ध समाज में अवतरित हुए जिन्होंने कबीर आदि संतो के लिए बुनियाद तैयार कर दी। इसका परिणाम यह हुआ कि सामाजिक हीनता से ग्रस्त दलितों ने अपने स्वाभिमान और सम्मान के लिए वर्णाश्रम व्यवस्था का विरोध करना आरम्भ कर दिया। तेरहवीं सदी में परिस्थितियों के बदलने के साथ ही दलित वर्ग को उठने का अवसर मिला, कबीर और रैदास इसी की उपज थे। वंशानुगत श्रेष्ठता के दावेदारों के पास कबीर के इस प्रश्न का क्या उत्तर है –"जो बाभन तू बाभनी जाया, आन बाट ह्वै काहै न आया।"[19] कबीर ने मध्ययुग में दलितों को जैसा देखा वैसा ही चित्रित किया–

निर्धन को आदर कोई न देई

लाख यतन करे कोई ओहु चितनधरई।[20]

जिस जाति ने विषमता के विष का सर्वाधिक पान किया उसी जाति के संत रविदास ने इस व्यवस्था के मूल को समझकर उस पर चोट की–

ऊँच कुल के कारणैं, ब्राह्मण कोय न होय।

जोउ जानहि ब्रह्म आत्मा, रैदास कहि ब्राह्मण सोय।[21]

---

[18] रमणिका गुप्ता (सं)–दलित चेतना सोच, पृ. 2
[19] डा. एन. सिंह (सं.)–शिखर की ओर, पृ. 319
[20] वही, – पृ. 319
[21] डा. धर्मवीर – गुरु रविदास, पृ. 45

मध्यकाल में एक ओर जहां ये दलित आत्म अभिव्यक्तियां समाज के क्रूर यथार्थ को वाणी दे रही थी, वहीं इसके समानांतर दूसरी ओर भक्ति का ब्राह्मणवादी स्वरुप भी तैयार हो रहा था। बड़े सुनियोजित ढ़ंग से दलित चेतना को नष्ट करने का प्रयास किया जा रहा था। रविदास मात्र चमार बनकर रह गए तो कबीर की ऐसी दुर्गति बनाई गई कि उत्तर प्रदेश –बिहार में होली के मौके पर गाए जाने वाले सभी प्रकार के भद्दे अश्लील और फूहड़ गीतों के साथ कबीर का नाम जोड़ दिया गया। प्रयास सफल रहा और फिर एक शून्य की स्थिति दिखाई देती है, जिसे 20वीं सदी के प्रारम्भ में हीराडोम तोड़ते हैं।

सही अर्थों में दलित चेतना की प्रथम अभिव्यक्ति हीराडोम की कविता 'अछूत की शिकायत' में मिलती है। भोजपुरी भाषा में उनकी यह कविता 'सरस्वती' में सितम्बर 1914 में प्रकाशित हुई–

'हमनी के इनरा के निगिचे ना जाइलेजा,

योके में भरि–भरि पीअतानी पानी

पनही से पिटि–पिटि हाथ गोड़ तुरि देइले

हमनी के एतनी काही के हलकानी, [22]

निःसन्देह इस कविता में अछूत जीवन की मार्मिक वेदना की अभिव्यक्ति है। हीराडोम ने 'अछूत की शिकायत' को ईश्वर के दरबार में प्रस्तुत किया है। उस ईश्वर के दरबार में जो खम्भा फाड़कर प्रह्लाद को बचाता है, जो गजराज की मगर से रक्षा करता है, जो दुर्योधन से द्रोपदी की लाज बचाता है, जो स्त्री, पुरुषों बूढ़ों और बच्चों की रक्षा के लिए पर्वत को उठा लेता है। वह भगवान अछूतों की अस्मिता की रक्षा क्यों नहीं करता? कवि के अनुसार क्या डोम जानकर वह भी हमें छूने से डरता है–

खंभवा से फारि के प्रहलाद के बचवले जा,

ग्राह के मुहं से गजराज के बचवले,

---

[22] डा. एन. सिंह (सं.) –शिखर की ओर, पृ. 291

धोती जुरजोधना के भइया छोरता रहे,

परगत होके तहां कपड़ा बढ़वले

मरले रवनवा के पलले भभिषना के,

कानी अंगुरी पै धैके पथरा उठवले,

कहवा सुतल बाटे सुनत न बाटे अब,

डोम जानि के हमनी के छुए से डेरइले।[23]

संभवतः 1914 के काल में भगवान की सत्ता को ऐसी चुनौती किसी कवि ने नहीं दी थी। हीराडोम ने अछूतों की पीड़ा और अस्मिता के संदर्भ से जिस तरह ईश्वर की दयालु और रक्षक छवि को तोड़ा है, वह ईश्वर की महिमा गाने वाले पौराणिक अख्यानों की प्रामाणिकता पर ही प्रश्न चिन्ह नहीं लगात वरन ईश्वर की सत्ता का ही खण्डन करता है। कविता के आरम्भ में हीराडोम ने जिन शब्दों में अछूत जीवन की पीड़ा को अभिव्यक्ति दी है, उसमें 'भगवानों' का सूक्ष्म उपहास भी स्पष्ट दिखाई देता है–

हमनी के राति दिन दुखवा भोगत बानी,

हमनी के सहेबे से मिनती सुनाइबि,

हमनी के दुख सहेबे से मिनती सुनाईबि

हमनी के दुख भगवानों न देखता जे,

हमनी के कब ले कलेसवा उठाइबि,[24]

कवि के अनुसार हम रात दिन जो दुख भोगते हैं, उसे किसे सुनाएं ? हमारा दुख तो भगवान भी नहीं देखता कि हम कैसे–कैसे क्लेश उठाते हैं? ये पंक्तियां जितनी मार्मिक हैं, उतनी

---

[23] डा. एन. सिंह (सं.) –शिखर की ओर, पृ. 291

[24] वही,, पृ. 291

ही उन लोगों के लिए चिन्तनीय भी है, जो 'भगवानों' का वर्णन जन–जन के रक्षक, उद्धारक और भक्त वत्सल के रुप में करते हैं।

इस लोक गीत के सिवाय हीराडोम के विषय में अन्य कोई विवरण हमें नहीं मिलता। वह क्या करते थे? कितनी कविताओं के वह रचयिता थे? कुछ पता नहीं चलता। विचारणीय तथ्य यह है कि किसी रचना को पात्रिका में वही रचनाकार प्रकाशनार्थ भेंज सकता है, जो पत्र–पत्रिकाओं के संसार से परिचित हो। यदि हीराड़ोम ने 'सरस्वती' को अपनी रचना भेजी, तो स्पष्ट है कि वह पढ़े–लिखे थे और पत्रिकाओं के संसार से भी परिचित थे तब यह नहीं हो सकता कि हीराडोम ने सिर्फ यही एक कविता लिखी हो। उन्होंने और भी कविताएं लिखी होंगी। वे कविताएं कहां है? इसकी कोई जानकारी आज उपलब्ध नहीं है। एक प्रश्न यह भी उठता है कि जब दलित चेतना की विचारधारा समानांतर रुप से निरन्तर प्रवाहमान रही है तो हीराडोम ही पहला दलित कवि कैसे हो सकता है?

दलित चेतना के दूसरे सशक्त हस्ताक्षर महामनीषी स्वामी अछुतानन्द 'हरिहर' थे, जिन्होंने सम्पूर्ण उत्तर प्रदेश में दलित आत्म चेतना को जागृत किया। इसके लिए उन्होंने 19वीं सदी के अंत और 20वीं सदी के प्रारम्भ में 'आदि हिन्दू' आन्दोलन चलाया कविता, गीत, भाषण और पत्रिकारिता के माध्यम से दलित स्वाभिमान और दलित मुक्ति के सवाल उठाए थे। वे हिन्दी क्षेत्र में सिर्फ दलित आन्दोलन और दलित पत्रकारिता के ही जनक नहीं थे, अपितु पन्द्रहवीं सदी की दलित चेतना की काव्यधारा को भी हम उनके द्वारा विकसित करते हुए देखते हैं। उनकी कविताएं लोक शैली में लिखी गई हैं जो भजन, गज़ल, दादरा, हरिगीतिका के रुप में है। कुछ पक्तियां द्रष्टव्य हैं–

यदि खून में कुछ जोश हो
ओ बेहोश कौमों जो होश हो
तो क्यों पड़े खामोश हो,
जागो बहुत बरबाद हो।

X X X

सोते तुम्हे मुद्दत हुई,

तज नींद अब तो जागिए

हजम तो वंश अपने को

तो जल्द बचाइए।[25]

स्वामी जी ने दलितों को ललकारते हुए कहा खुद को बचाना हो तो संगठित होकर अन्याय, अत्याचार और सामाजिक कुरीतियों का मुकाबला करो, तभी तुम्हारा सम्मान सुरक्षित रह सकेगा। इस तरह उन्होंने दलित समाज में नवचेतना का संचार किया। उनका संदेश था "दलित जनता को अपने आप में स्वाभिमान पैदा करके आत्मनिर्भर बनाना है।"[26] उन्होंने अपने एक ऐतिहासिक भाषण (1928) में कहा " भूतकाल में जो हुआ वह हो गया, अब हमें सब पुरानी बाते समझकर अपने मुल्की हकों को प्राप्त करने के लिए एक होकर प्राण–प्रण से चेष्टा करनी चाहिए और दब्बूपन त्यागकर अपनी सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और विद्या की उन्नति करनी चाहिए।[27] इसके लिए उन्होंने सामाजिक आंदोलन के साथ–साथ साहित्य सृजन के द्वारा दलित अछूत समाज में क्रांति चेतना प्रवाहित करने की महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसके लिए इन्होंने नाटक विधा को चुना तथा 'शम्बूक मुनि', 'राम राज्य न्याय', माया– नन्द–बलिदान', 'पारखपद' आदि नाटक लिखे।

दलित साहित्य के प्रथम कवि हीराडोम या स्वामी अछुतानंद को लेकर दलित साहित्यकारों में मतभेद है। इसके बावजूद हिन्दी दलित साहित्य में हीराडोम को पहला दलित कवि मान लिया गया है। जहां चिंतन का प्रश्न है, हीराडोम की कविता का भाव पक्ष संवेदनापूर्ण और मार्मिक है, जबकि स्वामी अछुतानंद जी की कविताएं गम्भीर इतिहासबोध से भरी हुई है, और विचारोत्तेजक हैं। हीराडोम यदि दलित की दासता का बोध कराते है, तो स्वामी जी दासता से मुक्ति का आह्वान करते हैं। हीराडोम की कविता में क्रांति चेतना नहीं है परन्तु स्वामी जी की कविताएं उनके दलित आन्दोलन का हिस्सा है, उनमें चिंतन का विकास है। वे दलितों को संघर्ष के लिए उत्तेजित और उद्वेलित करती हैं।

---

[25] प्रेमकपाड़िया (सं.) – हमदलित (अगस्त 1999), पृ. 26
[26] जयप्रकाश कर्दम (सं.) – दलित साहित्य वार्षिकी 1999, पृ. 69
[27] वहीं, पृ. 69

इस तरह दलित उद्वेलन की यह चेतना उत्तर भारत में कुछ समय के लिए नदारद हो गई। इसके कारणों को डा. पुरुषोत्तम अग्रवाल के शब्दों में समझा जा सकता है। उनके अनुसार "इस विशाल हिन्दी प्रदेश में अछूतों का अनुपात क्या है? 1914 में हीराडोम के बाद 1994 में ओमप्रकाश वाल्मीकि। करोड़ों की संख्या, दशकों का अरसा और सांस्कृतिक आभिव्यक्ति के क्षेत्र में उस संख्या का ऐसा सफाया। ठीक ही है। जाति का तो जिक्र ही पाप है और वर्ग चेतना की पुण्य सलिला तो विशाल हिन्दी क्षेत्र में अनादि काल से प्रवाहित है ही, वर्ग के अमूर्त कीर्तन का सबसे बड़ा फायदा यही है कि पूरे नैतिक संतोष (बल्कि दम्भ) के साथ सांस्कृतिक वर्चस्व के मूर्त विधान वर्णाश्रम को एजेण्डा से गायब किया जा सकता है। इसकी शिकार अस्मिताओं शूद्र, आदिवासी, स्त्री की चीत्कारों तर्क की स्मृति लोप कर देने के लिए रुपक की रणनीति का अविष्कार हो ही चुका है।"[28] इस कला का परिणाम है हीराडोम के बाद ओमप्रकाश वाल्मीकि। अर्थात एक बार फिर दलितों को अपनी उपस्थिति दर्ज कराने के लिए लम्बा संघर्ष करना पड़ा। दलित लेखकों को तो स्थान ही नहीं दिया गया, स्वयं मुख्यधारा के साहित्यकार दलित समाज की समस्याओं के प्रति कितना जागरुक रहे और उनका दृष्टिकोण क्या रहा? प्रेमचंद को छोड़कर (कुछ हद तक) अन्य साहित्यकार अपने पूर्वाग्रह से मुक्त नहीं हो सके।

3. प्रेमचन्द के लेखन में दलित

प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती उपन्यास कथा, कथानक और शैली की दृष्टि से प्राचीन प्रेमाख्यान काव्यों के गद्यमय रुप या तिलिस्म और ऐयारी के उपन्यास थे। दलित वर्ग पर प्रेमचंद के पूर्ववर्ती उपन्यासकारों की लेखनी दो ही रुपों में चली है सनातन धर्म मण्डन अथवा उपेदश प्रधान तथा सनातन धर्म खण्डन। प्रेमचंद के पूर्व के उपन्यासों का हिन्दी उपन्यास के विकास की दृष्टि से महत्व अवश्य है, किन्तु वास्तविक अर्थ में उपन्यास की परम्परा का प्रवर्तन प्रेमचंद से ही होता है। प्रेमचन्द ने हिन्दी उपन्यास को औपन्यासिक स्वरुप प्रदान किया, यथार्थवादी दृष्टि दी तथा शिल्प को व्यापक आधार प्रदान किया। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में मानवतावादी विचारधारा से अनुप्राणित होकर दलितों के प्रति पूर्ण सहानुभूति व्यक्त की। अछूतोद्धार और दलितोंद्धार के प्रभावशाली चित्र उपन्यासों मे चित्रित हैं।

---

[28] डा. पुरुषोत्तम अग्रवाल – तीसरा रुख, पृ. 77–78

प्रेमचन्द का युग विविध आन्दोलनों का युग था। राज़नीतिक, आर्थिक, धार्मिक और सामाजिक परावलंबन से मुक्ति पाने के लिए जनमानस को सदियों की तंद्रा से जागाने के लिए विविध सुधारवादी आन्दोलन चल रहे थे। उन सभी आन्दोलनों का प्रतिबिम्ब प्रेमचन्द के साहित्य में, विशेषकर उनके उपन्यासों में देखने को मिलते हैं। "वे उन विरले साहित्यकारों में है जिन्होंने युग चेतना का स्वरुप निर्धारित किया। उनका साहित्य अपने युग के उतार–चढ़ाव तथा विभिन्न राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक गतिविधियों का ऐतिहासिक दस्तावेज है। उनके साहित्य में शोषित एवं पीड़ित वर्ग के प्रति कोरी सहानुभूति ही नहीं है वरन् शोषक वर्ग के प्रति सक्रिय घृणा, आक्रोश का भाव भी उत्पन्न होता है।"[29]

प्रेमचन्द प्रथम भारतीय लेखक हैं जो अवर्णों और सवर्णों के बीच रोटी–बेटी संबंध स्थापित करते हैं रोटी का संबंध 'कर्मभूमि' में तो बेटी का संबंध 'गोदान' में। प्रेमचन्द अपने युग की जड़ता को तोड़ उसमें एक प्रकार की गति लाने की चेष्टा कर रहे थे। प्रेमचन्द की मौलिकता सदा समय के स्वर और आवश्यकता को पहचानने में रही है। उन्होंने ऐसे धर्म की आलोचना की जो मनुष्य के प्रति मनुष्य के अन्याय का समर्थन करता है। "उनकी सबसे बड़ी क्रांतिकारी देन यह भी कि उन्होंने उन व्यक्तियों को कथा का केन्द्र बनया जो साहित्य और जीवन की परिधि से बाहर समझे जाते थे।"[30]

दलित वर्ग को लेखकीय न्याय प्रदान करने वाले प्रथम लेखक भी प्रेमचन्द ही हैं। छुआछूत, ऊँच–नीच, जाति–भेद जैसे सामाजिक दुराग्रहों के साथ–साथ दलित वर्ग की सामाजिक, आर्थिक समस्याओं का चित्रण भी इन्होंने अपने उपन्यासों में किया तथा उनकी समस्याओं का समाधान भी किया। उनकी कहानियाँ दलित मुक्ति के रास्ते की तलाश के लिए पाठक को बेचैन तथा व्याकुल करती है। कहानियाँ दलित जीवन की सशक्त अभिव्यक्ति है– 'सदगति', 'ठाकुर का कुआँ', एवं 'कफन', आदि कहानियों का कथ्य एवं चित्रण परिपुष्ट होकर उनके उपन्यासों में समाहित हुआ।

प्रेमचन्द के उपन्यास 'कर्मभूमि' में वास्तव में अछूतों की समस्या को विस्तृत फलक प्रदान किया गया है। 'कर्मभूमि' में दूसरे भाग से चमारों के जीवन की कहानी प्रारम्भ होती है, जब अमर

---

[29] डा. कुँवरपाल सिंह– हिन्दी उपन्यासः सामाजिक चेतना, पृ. 8–9
[30] सुषमा धवन,–हिन्दी उपन्यासः पृ. 29

एक परदेसी के रूप में एक पहाड़ी गाँव में पहुँचता है, जहां रैदास रहते हैं। सर्वप्रथम उसका एक बुढ़िया से साक्षात्कार होता है। अमर जात–पात के संबंध में स्पष्ट घोषणा करता है "मैं जात–पात नहीं मानता, माताजी। जो सच्चा है, वह चमार भी हो तो आदर के योग्य है, जो दगाबाज, झूठा, लम्पट हो, ब्राह्मण भी हो तो आदर के योग्य नही।"[31] प्रेमचन्द की भी यह स्पष्ट मान्यता थी।

दलित वर्ग की समस्या के अनेक पहलू हैं। कुछ लोग इसे मात्र धार्मिक चश्मे से देखते है। मंदिरों में दलितों का प्रवेश निषिद्ध है। कुछ सुधारक मंदिर प्रवेश को ही अछूतों की समस्या के समाधान के रुप में देखते है। लेकिन प्रेमचन्द इसे महत्व देते हुए समस्या के मूल सामाजिक और आर्थिक को मुख्य मानते हैं। जब तक समाज में तथाकथित अछूतवर्ग और उसके कर्म के प्रति सम्मान,–भाव उत्पन्न नहीं होता तब तक उसके जीवन में क्रांति नहीं आ सकती। अछूतों की आर्थिक स्थिति कितनी भयावह है, उसका चित्र उस बुढ़िया रैदास की झोपड़ी है–"अमर झोपड़ी में गया तो उसका हृदय कांप उठा, मानों दरिद्रता छाती पीट–पीटकर रो रही है, और हमारा उन्नत समाज विलास में मग्न है। उसे रहने को बंग्ला चाहिए, सवारी को मोटर, इस संसार का विध्वंस क्यों नहीं हो जाता।?[32]

अछूतोद्धार से संबंधित जो विचार प्रेमचन्द ने इस उपन्यास में प्रस्तुत किए हैं, वे गाँधीवादी दृष्टिकोण से प्रभावित हैं। मंदिर–प्रवेश का जो संघर्ष इसमें दिखाया गया है वह संकुचित धार्मिक मनोवृत्ति का सूचक है। सुधारवाद का नारा लगाने वाले भी निम्न वर्गों को अपने बराबर स्थान न दे सके। चमारों की सामाजिक स्थिति का चित्रण बालकों के माध्यम से प्रेमचन्द करवाते हैं। अमर चमार बालकों से पूछता है, "कहां पढ़ने जाते हो? बालक ने नीचे का होंट सिकोड़कर कहा– कहां जाय, हमें कौन पढायें? मदरसे में कोई जाने तो देता नहीं। एक दिन दादा हम लोगों को लेकर गए थे। पण्डित जी ने नाम लिख लिया, पर हमें सबसे अलग बैठाए थे। सब लड़के हमें 'चमार–चमार' कहकर चिढ़ाते थे। दादा ने नाम कटा दिया।"[33]

अछूत और दलित वर्ग की जितनी भयावह स्थिति गांवों में है, वैसी ही नगरों में भी है। उनके रहने के स्थान साक्षात् नरक हैं। 'कर्मभूमि' में इसका भी चित्रण हुआ है। ग्युनिसिपल बोर्ड

---

[31] कर्मभूमि, पृ. 148
[32] वही,, पृ. 148
[33] वही,, पृ. 152

और उसके कर्णधार केवल धनिकों की सेवा करने में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं। गरीबों की झोपड़ियों की ओर कोई ध्यान नहीं देता। वे संगठित होकर अपने मांगों के लिए आंदोलन करते हैं। लेकिन उनके सारे प्रयास विफल हो जाते हैं। वे अन्याय और उपेक्षा सहने को तैयार नहीं है। मुरली सटीक विद्रोही स्वर में कहता है–"किसी को तो महल और बंगला चाहिए, हमें कच्चाघर भी न मिले। मेरे घर में पाँच जने हैं उनमें से दो–चार आदमी महीने भर से बीमार हैं। उस काल कोठरी में बीमार न हों तो क्या हों? सामने से गंदा नाला बहता है। सांस लेने में नाक फटती है।"[34] प्रेमचन्द इसके साथ–साथ अछूतों के स्वाभिमान की पूरी रक्षा करते हैं। उनमें पाए जाने वाले दोषों पर भी प्रकाश डालते है और बुरे कार्यों तथा मरी गाय के मांस खाने को छोड़ने का आह्वान करते हैं, और आजीविका के लिए चमड़े के काम का समर्थन करते हैं। इस प्रकार प्रेमचन्द कर्म में अधिक विश्वास करते हैं। वे मात्र वैचारिक दुनिया में अपने पात्रों को छोड़ नहीं देते, वरन् उन्हे कर्मठ और जीवट पूर्ण बनाकर सामाजिक सुधार की दिशा में लगा देते हैं।

'कर्मभूमि' में अछूत समस्या का दूसरा पहलू 'मंदिर–प्रवेश' का है जो एक सीमा तक उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा से कम धार्मिक प्रतिष्ठा से अधिक संबंद्ध है। मंदिर प्रवेश का प्रश्न उपन्यास में आगे चलकर एक आंदोलन का रुप धारण कर लेता है। जोर–शोर से नारे लगाए जाते है–" मंदिर किसी एक आदमी या समुदाय की संम्पति नहीं है। वह हिन्दू मात्र की चीज है। यदि तुम्हे कोई रोकता है तो उसकी जबरदस्ती है मत टलो इस मंदिर के द्वार से, चाहे तुम्हारे ऊपर गोलियों की वर्षा ही क्यों न हो"?[35] प्रेमचन्द की यह दृढ़ता दलितों को हिन्दु समाज व्यवस्था के विरोध में खड़ा नहीं करती है, क्योंकि दलितों का हिन्दूपन सिर्फ हिन्दूधर्म के खतरे में पड़ने तक है।

प्रेमचन्द गाँधीवाद से प्रेरणा लेकर उनकी सीमाओं से भी आगे जाते हैं और दलितों की आर्थिक स्थिति को समस्याओं के मूल के रुप में चीत्रित करते हैं तथा अछूतोद्धार आन्दोलन गाँव तक ले जाते हैं। चमार असामियों और मजदूरों के शोषण को भी दर्शाते हैं। अपनी कालजयी कृति 'गोदान' में तो प्रेमचन्द ने दलितों के साहस का चित्रण करके दलितों में विद्रोही चेतना का आगाज करते हैं। मातादीन सिलिया को भोगकर छोड़ देता है, क्योंकि वह अछूत है। उसके साथ सोने में

---

[34] कर्मभूमि, पृ. 267
[35] वही,, पृ. 211

अछूतपन नहीं है। प्रेमचन्द इस ढोंग पर करारा व्यंग करते और साथ ही समाज के बदले तेवर का महत्वपूर्ण संकेत भी किया है। सिलिया का बूढ़ा पिता ललकारते हुए कहता है "तुम हमें ब्राह्मण नहीं बना सकतें, मुदा हम तुम्हें चमार बना सकते हैं। हमें ब्राहमण बना दो, हमारी सारी बिरादरी बनने को तैयार है। जब यह समरथ नहीं है, तो फिर तुम भी चमार बनो, हमारे साथ खाओ–पीओ हमारे साथ उठो–बैठों। हमारी इज्जत लेते हो तो अपना धर्म हमें दो"[36]। 'गोदान' में दलित सिर्फ इतना करते भर नहीं है, बल्कि मातादीन के मुंह में हडडी का टुकड़ा डालते हैं कि तुमने हमारी इज्जत ली है, हम तुम्हारा धर्म भ्रष्ट करेंगे। मातादीन जैसे विधर्मी और लम्पटो के साथ ऐसा व्यवहार ही धर्मानुकूल है।

सवर्णों के विशेषाधिकार बेगार तक सीमित न थे। अछूत और पिछड़ी जातियों की बहू–बेटियों को तंग करना या उनके साथ छेड़छाड़ करना भी उनके विशेषाधिकारों के क्षेत्र में आता था। 'गोदान' से पहले के उपन्यासों में यह बात नहीं दिखती है। बाद में यह प्रवृत्ति बढ़ती गई। ज्यों–ज्यों अछूत और पिछड़ी, जातियों के किसान और खेत मजदूर आर्थिक मांगों पर संगठित होते गए, निहित स्वार्थों के अत्याचार भी बढ़ते गए। ऐसे में अछूतों के पास भी संगठित होकर इसका विरोध करने के अलावा विकल्प ही क्या था? मातादीन की समस्या को व्यापक मानते हुए हरखू होरी से कहता है "तुम्हारे घर में भी लड़कियां है... इसी तरह गाँव की मरजाद बिगड़ने लगी, तो किसी की आबारू न बचेगी।"[37] प्रेमचन्द अछूत बनाम छूत के संघर्ष को केन्द्र में प्रतिष्ठित नहीं करना चाहते थे। इसलिए होरी के कहने पर हरखू सभी को लेकर चला जाता है।"वह मात्र इतना दिखाना चाहते हैं कि यदि सवर्ण जातियों का सामंती रवैया नहीं बदलेगा तो उन्हें इस तरह के उग्र और संगठित प्रतिरोध का सामना करना पड़ सकता है।"[38]

'गोदान' के ये-प्रसंग डा. अम्बेडकर के आंदोलन की याद दिलाते हैं ऐसा प्रतीत होता है कि धीरे–धीरे प्रेमचन्द दलित समस्या के संबंध में डा. अम्बेडकर के विचारों को महत्वूपर्ण मानने लगे थे, अन्यथा ऐसे क्रांतिकारी चरित्रों और घटनाओं का सृजन उस काल में संभव न था। "यद्यपि

---

[36] गोदान, पृ0 208
[37] गोदान, पृ. 209
[38] कांतिमोहन –प्रेमचन्द और अछूत समस्या, पृ.. 254

प्रभाव चाहे जो हो, लेकिन सन् 1936 ई. तक का दलितों से संबंधित प्रेमचन्द का लेखन वर्णाश्रम की चूले हिलाने वाला है।"[39]

हिन्दी साहित्य में पहली बार एक ऐसा चरित्र सामने आया जो अछूत होते हुए भी उपन्यास का नायक है। 'रंगभूमि' का सूरदास एक चमार हैं लेकिन उसकी समस्या एक सामान्य किसान की समस्या है। इसका संबंध उसकी (अछूत) सामाजिक स्थिति से नहीं बल्कि तत्कालीन राजनीति स्थिति से जुड़ा हुआ है। इस कारण उपन्यास के ढांचे में अछूत समस्या के जो पहलू मौजूद हैं वे भी ठीक से उभरकर सामने नहीं आ सके हैं। 'रंगभूमि' का पांडेपुर गांव प्रेमचन्द की कल्पना का आदर्श गाँव है। गाँव के एक मात्र मंदिर में छूत–अछूत एक ही संगत में बैठकर भजन–कीर्तन करते हैं। ऐसा नहीं कि वे अन्जाने में ऐसा कर रहे हैं बल्कि वे एक दूसरे से भली भाँति परिचित हैं। कांतिमोहन ने लिखा है "पूरे उपन्यास में अछूत समस्या का कोई चित्रण नहीं? गरीब सूरदास ने इस प्रथा के विरुद्ध कहीं कुछ कहा तक नहीं, डा. गांगुली और विनय आदि के नेतृत्व वाली सेवा समिति के प्रयासों में कहीं अछूतोंद्धार का जिक्र तक नहीं, जसवंतनगर के रुप में भारतीय रियासतों की दुर्व्यवस्था के चित्रण में इस भद्दी सामाजिक प्रथा की एक झांकी तक नहीं फिर सुरदास की मृत्यु पर आयोजित प्रीति भोज में छूत–अछूत का एक पंक्ति में बैठकर खाना उसकी सबसे बड़ी विजय कैसे हो सकती है?"[40]

प्रेमचन्द के उपन्यास 'प्रेमाश्रम' में कुछ स्थलों पर दलित वर्ग का चित्रण मिलता है। सामंती शासन में बेगार के रुप में हाकिमों के दौरे पर उनके घोड़ो के लिए घास छीलना चमारों का काम था। सरकारी बेगार में पारिश्रमिक मांगना एक प्रकार का अपराध है। मजदूरी के रुप में उनकी पिटाई की जाती है।

प्रेमचन्द दलित चित्रण को उपन्यासों की अपेक्षा कहानियों में बड़ी शिद्दत के साथ उठाया है। दलित संबंधी प्रमुख कहानियां 'ठाकुर का कुआँ', 'सद्गति', 'घासवाली', 'दूध का दाम', 'कफन', 'मंदिर' और 'मुक्तिमार्ग' है। प्रेमचन्द का प्राथमिक तर्क मनुष्य के जन्मगत विशेषाधिकार के वरक्त गुण – कर्म के महत्व की स्थापना की है। मनुष्य की पहचान तथा उसकी स्थिति का निर्धारण उसके निहित मानवीय गुणों तथा उसके कर्मों से होना चाहिए। 'ठाकुर का कुआँ' में अस्पृश्यता की

---

[39] सदानंद शाही (सं.),– दलित साहित्य की अवधारणा और प्रेमचन्द, पृ. 121
[40] कांतिमोहन,प्रेमचन्द और अछूत समस्या पृ. 206

त्रासदी का मार्मिक चित्रण है, पर उसमें वर्ण का कोई विरोध नहीं है। गंगी ठाकुर के कुएँ से पानी लेने जाती है तो जोखू कहता है– "हाथ पाँव तुड़वा आयेगी और कुछ न होगा। बैठ चुपके से। ब्राह्मण देवता आशीर्वाद देंगे। ठाकुर लाठी मारेंगे, साहु जी एक के पांच लेगे। गरीबों का दर्द कौन समझता है?"[41] यहाँ प्रेमचन्द ने जाति के कारण नहीं, गरीबी के कारण जोखू की उपेक्षा दर्शायी है। 'मंदिर' कहानी गाँधीवादी दृष्टिकोण पर आधारित है। पराजित को हरि की ही शरण होती है, सो सुखिया भी अपने मृतक पति द्वारा सुझाई गई इस बात पर विश्वास कर लेती है कि "तेरा बालक अच्छा हो जायेगा। कल ठाकुर जी की पूजा कर दे, वही तेरे सहायक होगें।"[42] पर सुखिया को चमारिन के कारण मंदिर में आने नहीं दिया जाता है। और उसका बालक तथा खुद गाँव के लोगों का शिकार हो जाती है। उसका बच्चा पहले मर चुका है इस पर उसको क्रोध तो आता है फिर भी वह कहती है "मेरा न्याय भगवान करेंगे, अब उन्ही के दरबार में फरियाद करुँगी।"[43] इस कहानी में सुखिया का दुखद अंत हुआ जो द्रवित तो करता है लेकिन धर्म और अंधविश्वास से मुक्ति की प्रेरणा नहीं देता है।

'सदगति' कहानी में प्रेमचन्द दलित जीवन के यथार्थ को दिखाने में सफलता हासिल की हैं। एक चमार की ब्राह्मण भक्ति की पराकाष्ठा और एक ब्राह्मण की अस्पृश्यता की क्रूरता की पराकाष्ठा ये दोनों ही चीजे कहानी में उद्वेलित करती हैं। लेकिन इस कहानी में सदगति क्या है? किसकी हुई है सद्गति? क्या दुखी की सदगति हुई है ? जो भूखा – प्यासा रहकर पण्डित जी के घर बेगार करते – करते मर जाता है और जिसे पैरों में रस्सी बांधकर गाँव के बाहर घसीटकर ले जाया जाता है, जिसकी लाश को पशु नोच रहे होते हैं? या पंडित घासीराम की सद्गति हुई है जिसने एक चमार की लाश उठाने का अशास्त्रीय काम किया? कंवल भारती के शब्दों में "सद्गति जितनी यथार्थ परक कहानी है ,उतनी ही कल्पनापरक भी है दुखी की स्त्री और कन्या का अपने ही सामने दुखी की लाश की बेकदरी होते देखना और पंडित जी का लाश को रस्सी से घसीटकर ले जाना स्वाभाविक प्रतीत नहीं होता।"[44]

---

[41] मानसरोवर –1 पृ. 126
[42] अमृतराय (सं.)– प्रेमचन्द की प्रतिनिधि कहानियां, पृ. 36
[43] वही, पृ. 37
[44] सदानंद शाही, (स.) – दलित साहित्य की अवधारणा और प्रेमचन्द्र, पृ. 96

प्रेमचन्द की सर्वश्रेष्ठ कहानी 'कफन' की चर्चा के बिना उनका दलित चित्रण अधूरा ही माना जायेगा। दलित जीवन की मार्मिक प्रस्तुति कफन है। लेकिन दलित चिंतको की दृष्टि में यह दलित विरोधा कहानी है। इंद्रनाथ मदान ने कहा है "यह कहानी जिस सत्य को उजागर करती है वह जीवन के तथ्य से मेल नहीं खाता[45], तो कंवल भारती के अनुसार 'इसमें प्रेमचन्द ने दलित जीवन का माखौल उड़ाया है। कामचोर सिर्फ दलितों में ही नहीं है दूसरी ऊँची जातियों में कामचोरों की कमी नहीं है। भूख का भी जाति विशेष से कोई रिस्ता नहीं है'।[46] तो क्या भूख मानव को अमानवीय बना देती है? यदि ऐसा होता तो देश के भूखे लोग सबसे पहले अमानवीय होते और धनवानो के जिस्म के टुकड़े – टुकड़े कर चुके होते। पशु ही ऐसा कर सकता है क्योंकी पशु में भूख के सिवाय कुछ नहीं होता। किन्तु मानव में भूख के साथ–साथ प्रेम और वेदना भी होती है। प्रेमचन्द कफन से यह सन्देश देना चाहते हैं कि दलितों की मुख्य समस्या गरीबी की है? गरीबी ही उनमें तमाम विकृतियां पैदा करती है। यदि घीसू और माधव गरीब नहीं होते तो वे इतने बड़े अमानवीय नहीं हो सकते थे। ओम प्रकाश वाल्मीकि कफन पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि" कफन कहानी प्रेमचन्द की श्रेष्ठ कहानियों में से एक है जिसमें शिल्प और विषय वस्तु की गहन अभिव्यक्ति हुई है। किन्तु मेरा यह मानना है कि उस कहानी में दलित चेतना नहीं बल्कि व्यवस्था द्वारा उत्पन्न अलगाव और उसमें छले–दुहे जाने वाले चरित्रों का यथार्थवादी चित्रण है जिसमें आदर्शहीनता को रेखांकित किया गया है।"[47]

इसमें संदेह नहीं कि सवर्ण साहित्यकारों में प्रेमचन्द पहले रचनाकार थे , जिन्होने दलितों के दुखों से द्रवित होकर उनकी आवाज समग्रता के साथ उठाई। वह अस्पृश्यता के खिलाफ थे और उसे दूर करने के लिए भी प्रयत्नशील थे। प्रेमचन्द के साहित्य पर तत्कालीन परिस्थितयों का दबाव स्पष्ट दिखाई देता है। गाँधी और डा. अम्बेडकर दोनो ही प्रेंमचन्द के समकालीन थे पर वे गाँधी के अनुयायी थे। वे डा. अम्बेडकर के प्रति आदर भाव रखते थे लेकिन वर्णव्यस्था के विचार से उनसे सहमत नहीं थे। प्रेमचन्द के यहां अम्बेडकर के शिक्षा, संगठन और संघर्ष का कहीं संकेत मात्र भी नहीं मिलता है। अंततः यही कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द का कथा साहित्य उनके

---

[45] सदानंद शाही, (स.) – दलित साहित्य की अवधारणा और प्रेमचन्द, पृ. 88
[46] वही पृ.. 88
[47] वही, पृ. 89

अपने चिंतन पर आधारित है। उनका यह चिंतन हिन्दू धर्म या हिन्दू सामाजिक व्यवस्था की सीमा को लाँघ नहीं पाता है।

4. अन्य उपन्यासकार और दलित

अपने युग की समस्याओं के प्रति किसी भी लेखक को उदासीन नहीं रहना चाहिए। रेल्फ फाक्स के शब्दों में, "क्या उपन्यासकार दुनिया की समस्याओं की, जिनमें वह रहता है, उपेक्षा कर सकता है? क्या वह अपने चारों ओर भयानक वातावरण देख कर मुँह बन्द रख सकता है? जबकि राजकीय रेहन के नाम पर व्यक्तिगत लोलुपता को ज्यों का त्यों कायम रखने के लिए जीना दूभर कर दिया गया है। दिन – पर – दिन उपन्यासकार यह अनुभव करने लगे हैं कि आँख कान और स्वर वास्तव में चेतना के अंग है और मानवीय दुनिया को शक्ति प्रदान करने के लिए उत्तरदायी हैं,। वे किसी आध्यात्मिक विश्व के निष्क्रिय दास मात्र नहीं हैं, जैसा कि कला के क्षेत्र में परम्परागत मान्यता रही है।"[48]

यह उपन्यासकार का युग – धर्म है कि उसे अपने समय की समस्याओं में काफी गहरे डूब जाना होता है। दलित समस्या आज की ज्वलंत समस्याओं में से एक है। प्रेमचन्द पूर्व व प्रेमचन्द युग में इस समस्या को लेकर लिखा जाता रहा है। प्रेमचन्द की पहली रचना "मेरी पहली रचना" भी दलितों से सम्बद्ध है और अन्तिम रचना भी। प्रेमचन्द ने हिन्दी दलित उपन्यास साहित्य को यथार्थ की धरती तथा कला की ऊँचाइयों का आकाश प्रदान किया। सम्पूर्ण हिन्दी उपन्यास में प्रेमचन्द को एक प्रकाश स्तम्भ माना जा सकता है। जिससे आलोकित हो अन्य लेखकों ने भी अपनी लेखनी दलित वर्ग के चित्रण में लगाई। प्रेमचन्द के अतिरिक्त जितने भी दलित उपन्यास लिखे गये उनमें, उनके शोषण, उत्पीड़न , दलन, घृणा, अपमान, तिरस्कार, विद्रोह और संघर्ष के सारे रंगों को वाणी दी गयी है और भारतीय समाज में व्याप्त पाखण्ड को परत दर परत निरावृत भी किया गया है। जिन – जिन उपन्यासों में दलित वर्ग का चित्रण मिलता है उन सबका विवरण निम्न दिया जा रहा है।

---

[48] "CanA novelist remain indifferent to the Problams of the world in which he lives? Can he shut his ears to the clamour of preparing war, his eyes to the state of his country, can he keep his mouth closed when he sees horror around him and life being denied daily in the name of state pledged to maintain the sanctity of private greed? More and more novelist, are beginning to feel that eyes ears and voice are, infact, organs of senses responsible to the stimulus of the human world and not mere passive revents of a spritual world suppored traditingally to the domain of art" – 'The Novel and the people': Ralph Fox,

'मनुष्यानंद' (बुधुआ की बेटी), उग्र का यह उपन्यास पहले 1928 में बुधुआ की बेटी ' नाम से तथा 1953 में 'मनुष्यानन्द' के नाम से प्रकाशित हुआ। यह हिंदी साहित्य का पहला उपन्यास है जिसमें समाज की सबसे दलित और अछूत भंगी जाति की पात्री (रधिया) को नायिका का स्थान मिला। इसमें भंगी जाति के चित्रण के साथ – साथ समानता और अपने सेवा संबंधी आधिकारों के संघर्ष का चित्रण किया है। इस उपन्यास में 'रधिया' परिस्थितियों के कराल हाथों में पड़कर अनाथ हो जाती है जिसे हिन्दू समाज का सहारा नहीं मिलता। अघोरी मनुष्यानंद व मि. यंग सभी दृष्टियों से उसकी सहायता करते हैं। जो समाज अनाथ रधिया को सहारा नहीं दे सकता वही उसके रुप यौवन पर भूखे भेडिएं की तरह टूट पड़ता है। यह कितना बड़ा पाखण्ड है कि एक ओर अन्त्यज को छूना भी पाप समझा जाता है, दूसरी ओर उसी वर्ग की युवती को अपनी हवस का शिकार बनाने में कोई पाप या छूआ–छूत सवर्णों को नहीं लगता। दया धर्म का उपदेश देने वाले हिन्दू समाज की अमानुषिक और रुढ़िग्रस्त संकीर्णता पर उग्र व्यंग करते है " यद्यापि यहां पर अनेक ऐसे हिन्दू हैं जिनके यहा कुत्ते भी पले हैं और एक नहीं अनेक। भंगी समाज मैला फेंकने के कारण पतित है और उसी मैले को खाने वाला कुत्ता शुद्ध है। वसुधैव कुटुम्बकम् सिद्वान्त आदि के आविष्कारक इन हिन्दुओं का ऐसा पतन हो गया पादरी साहब"।[49] हिन्दू समाज में दोहरी नैतिकता और सामाजिक मूल्य प्रचालित हैं इस समाज के सिद्वान्त और व्यवहार में बहुत अन्तर है।

इस अन्यायपरक व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष और उस संघर्ष से सफलता का चित्रण लेखक ने किया है। अघोरी मनुष्यानन्द का संबल पाकर अंत्यज लोग उसके नेतृत्व में विश्वनाथ मंदिर में दर्शन लाभ करते हैं। उसी की प्रेरणा से बुधुआ के नेतृत्व में भंगी लोग नगरपालिका प्रशासन से अपने वेतन और उचित मांगों के लिए संघर्ष करते है। इस उपन्यास की मूलभूल समस्या दलितोद्धार की है इसके लिए मनुष्यानन्द जो कुछ करता है वह एक क्रांतिकारी घटना है। पण्डो , पुरोहितों , ब्राह्मणो के निंदनीय कुकर्मो की कटु अलोचना करते हुए मनुष्यानन्द कहता है – " एक मरते हुए प्राणी को ईश्वर के मंदिर मे अपनी मुक्ति के लिए प्रार्थना करने न जाने दे। मानो भगवान ने अपने धर्म के क्रय – विक्रय का उन्हें सोल एजेन्ट नियुक्त कर रखा है ये हिंसावादी ऐसी पवित्र संस्थाओं पर क्यों कोदो दला करते है"।[50] इस तरह उग्र जी ने समाज के उस घोर यथार्थ का चित्रण किया है जिसमें तत्कालीन समाज पतनोन्मुख हो रहा था, साथ ही समाज के

---

[49] मनुष्यानन्द, पृ. 68
[50] वही, पृ. 221–222

घृणित परिवेश का द्वार खोला था, जिसमें मानवता अपने खण्डित रुप में करुण आर्तनाद कर रही थी।

मनुष्यानंद के भंगी आधुनिक सामाजिक और राष्ट्रीय जागरण की उपज हैं। वे अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करते हैं। प्रेमचन्द के कर्मभूमि के अछूत आन्दोलन का अन्त समझौता वाद में हाता है लेकिन मनुष्यानंद में विद्रोह का शंखनाद है। कर्मभूमि के अछूत आन्दोंलन का नेतृत्व मध्यमवर्गीय पात्रों के हाथ में था इसलिए वह अपने लक्ष्य तक पहुँचने के पूर्व ही समझौतावाद के दल–दल में जाकर समाप्त हो गया।

'उदयास्त' आचार्य चतुरसेन का प्रथम उपन्यास है जिसमें प्रगतिशील तत्वों को सूक्ष्मता एंव स्वाभाविकता के साथ समाविष्ट किया गया है। इसमें स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात छोटे – बड़े के बीच असमानता को लेकर संघर्ष की कहानी है। इस उपन्यास में मंगतू चमार और राजगढ़ रियासत के राजा रूद्र प्रताप नारायण सिंह के बीच समानता के लिए हुआ संघर्ष चित्रित किया गया है। यह दलितों में अधिकार पाने की चेतना को दर्शाने वाला उपन्यास हैं।

शास्त्री जी ने अपने अन्य उपन्यास 'गोली' में सामन्ती कारागारों में कैद तथा मानवीय अधिकारों से सर्वथा वंचित दास – दासियों की पीड़ा को वाणी दी है। इस उपन्यास में एक दासी की करुण कथा आत्मकथात्मक शैली में कही गयी है। चम्पा इस उपन्यास की नायिका है, जिसका शारीरिक मानसिक एवं भावनात्मक शोषण उसके स्वामी द्वारा बडी निर्दयता से किया जाता है। चम्पा एक राजा की पर्यकशायिनी होने पर भी उसकी रानी नहीं है, उसकी विवाहिता पत्नी नहीं है। उस राजा से उसकी पांच संताने हुई पर वह उसका पिता न था। पिता था, उसका पति , जिसका कर स्पर्श उसने केवल एक बार जब वह पंद्रह वर्ष की थी, विवाह मन्डप में किया था। रजवाड़ी संस्कृति की आमनवीयता का सुन्दर चित्रण लेखक ने किया है।

शास्त्री जी के एक अन्य उपन्यास 'बगुला के पंख' का चरित्र नायक जुगनू जाति से भंगी है। दलित वर्ग के प्रतिनिधि के रुप में लेखक उसके विषय में विशेष कुछ चित्रित नहीं करता , केवल उसका परिचय कुछ विशेष स्थलों पर भंगी के रुप में करा देता है। आगे चलकर उसकी सारी गतिविधियाँ व क्रिया – कलाप भ्रष्ट राजनेता के रूप में हुई है न कि दलित पात्र के रूप में।

"अज्ञेय" हिन्दी उपन्यासकारों की श्रेणी में विशिष्ट स्थान रखते हैं। वे हिंदी के श्रेष्ठ व्यक्तिवादी उपन्यासकार हैं। उन्होंने उपने पात्रों का मनोविश्लेषण करने का मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रयत्न किया है। उनका उपन्यास 'शेखर एक जीवनी' को एक अहंवादी और व्यक्तिवादी रचना कहा गया है, पर इसके सामाजिक पक्ष पर समुचित प्रकाश नहीं डाला गया। इसमें जाति व्यवस्था का अस्वीकार है और दलितों को मानवीय गरिमा प्रदान की गयी है। उपन्यास के प्रथम भाग में 'अज्ञेय' दक्षिण भारत में व्याप्त छूआ–छूत तथा वर्गभेद को मार्मिक रूप से अभिव्यक्त करते हैं साथ ही वे ब्राह्मणत्व के मिथ्या दम्भ पर करारी चोट करते हैं।

प्रथम भाग में बालक शेखर के साथ खेलने वाली अछूत बालिका फूलां का वर्णन आता है जिसके साथ खेलने तथा उसके घर आने जाने के कारण शेखर पर उसके माता – पिता कई प्रकार की वर्जनाएं लादते हैं। फूलां के घर खाना खाने के लिए शेखर के अभिभावक मना करते हैं और उसे इसका कारण यह बताया जाता है कि वह नीच जाति से है। " बालक शेखर के लिए यह एक सर्वथा नयी बात थी, जिस पर वह पर्याप्त चिंतन और विश्लेषण करता है।[51] मद्रास के जिस बोर्डिग में शेखर रह रहा था वह ब्राह्मणों के लिए था। पिता की आज्ञानुसार शेखर वहीं आकर ठहरा था। बोर्डिग का रसोईघर सब ओर से घिरा हुआा था ताकि किसी आते – जाते व्यक्ति या छोटी जाति के व्यक्ति द्वारा देखा जाकर भ्रष्ट न हो जाए। एक दिन शेखर ने सुना कि स्वयं शेखर को लेकर हॉस्टल में हंगामा मचा हुआ है कि शेखर ब्राह्मण नहीं है उसके चुटिया नहीं, जनेऊ नहीं है, पूजा – पाठ नहीं करता वह भ्रष्ट है उसने हम सभी को भ्रष्ट कर डाला। उन्होने निश्चय किया कि वे शेखर के साथ भोजन नहीं करेंगे, हॉस्टल छोड़ देंगे और जब तक कुछ निर्णय न हो जाए, शेखर का आसन औरों से कुछ हटा कर लगाया जाए। शेखर इस ब्राह्मण बोर्डिग को इसलिए परित्याग कर एक अछूत बोर्डिग को अपना आवास बनाता है क्योंकि वहाँ ब्राह्मणत्व का पाखण्ड, पराकाष्ठा की सीमा तक व्याप्त था।

"अज्ञेय" ने शेखर का चरित्रांकन उस धरातल पर जाकर किया है कि जाति को लेकर कोई दुराग्रह – पूर्वाग्रह उसके मन में नहीं है। वह अपने अभिनन्दन के लिए अपने अछूत साथियों से कहता है – "मैं ब्राह्मण होकर आप लोगों को साथ ले रहा हूँ ऐसा भाव मुझमें नहीं है। मैं स्वयं आपके साथ आया हूँ। भीतर कहीं मैं भी अछूत हूँ आपका भाई हूँ। मैंने अपना आप सबको

---

[51] सुरेश सिन्हा,– 'हिन्दी उपन्यास', पृष्ठ – 430

दान नहीं किया मैने अपने आपको पाया है। "[52] अज्ञेय ने इस उपन्यास में शेखर के माध्यम से अछूत समस्या को जिस गहराई व आत्मीयता से उठाया है वह उनकी लेखकीय निष्ठा का परिचायक है।

रांगेय राधव का 'कब तक पुकारूँ' श्रेष्ठ कृतियों में ही नहीं गिना जाता वरन् हिन्दी उपन्यासों में भी इसका एक विशिष्ट स्थान है। यह उपन्यास प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास को एक नया आयाम देता है। इस उपन्यास में लेखक ने समाजवादी यथार्थवाद का सफल चित्रांकन किया है और शोषण, सामाजिक अन्याय, बुर्जुआ मनोवृत्ति एवं असमानता के विरूद्ध आवाज उठायी है। इस "मूल क्रांति के लिए जागृति उत्पन्न करने की चेष्टा की है, जो इस रूढ़ परम्परागत एवं पूंजीवादी प्रभाव से ग्रस्त सामाजिक रूप – विधान को तहस – नहस करके एक मूल्य – मर्यादायुक्त नवीन प्रगतिशील सामाजिक व्यवस्था को जन्म देगी। उसकी यह विचारधारा समाजवादी चेतना का प्रतीक है।"[53] डा. ज्ञानचंद गुप्त के अनुसार इस उपन्यास में 'उत्पीड़ित एवं शोषित जनजातियों विशेषकर नटों की व्यथाकथा आर्थिक शोषण, तज्जनित सामाजिक नैतिक मान्यताओं एवं उनके बीच उभर रहे वर्ग संघर्ष को रूपायित करने का यर्थाथवादी दृष्टि से प्रयास किया गया है।"[54]

उपन्यासकार ने आमुख में स्पष्ट किया है" – ..... युग अब प्रेमचन्द से आगे है और केवल शोषण का आर्थिक पहलू ही देखना काफी नहीं है। शहरों में बैठने वाले आधुनिक नजरिये से सब कुछ देख डालते हैं , पर असली भारत गाँव में है जो अब भी मध्यमकालीन विश्वासों से ग्रस्त है। वे विश्वास मध्यमकालीन आर्थिक व्यवस्था से नियंत्रित है। मैने उनको प्रकट करने का प्रयत्न किया हैं। हो सकता है कुछ विशेषताऐं राजस्थान की ही हो। करनट की पत्तल मेहतर नहीं उठाते, न बेड़नी की पत्तल उठाते हैं। पर ठाकुर उसी बेड़नी (बेड़िया) के साथ एक प्याले में शराब पीता है। .....सारी व्यवस्था अपने अंधविश्वासों पर जमी हुई है .....।"[55]

लेखक ने इस उपन्यास में करनटों के जीवन का यथार्थ एवं विशद चित्रण किया है उपन्यास का नायक सुखराम करनट है। करनट जरायमपेशा कौम होती है। इनका जीवन बड़ा उन्मुक्त तथा यौन सम्बन्धों की दृष्टि से स्वतंत्र होता है किंतु आर्थिक बेड़िया उतनी ही कठोर।

---

[52] शेखर : एक जीवनी' पृ. – 215
[53] डा. सुरेश सिन्हा –'हिन्दी उपन्यास', पृ. 491
[54] डा. ज्ञानचंद गुप्त,–'आंचलिक उपन्यास' पृ. – 58
[55] 'कब तक पुकारूँ', पृ. – 5

करनट सर्वथा उपेक्षित और अनचिन्ही जनजाति है। इस जाति को अपराधजीवी (जरायम पेशा) जाति माना जाता है। कंजर , सांसी, भोग्या, बावरी आदि जातियां भी जरायम पेशा जातियां हैं। सभ्य और सवर्ण समाज में इन जातियों के नाम गलियों में सम्मिलित होते हैं।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के ऐतिहासिक उपन्यास 'चारूचन्द्रलेखा' में करनटों का वर्णन मिलता है। नाटी माता और मैना इसी जाति की है। उनकी सामाजिक स्थिति सम्मानजनक थी। संभव है आज के करनट उन्ही कारूनटों के वंशज हों और समय के साथ शनैः शनैः वर्तमान हीनदशा में पहुँच गये हों।

अपराधजीवी करनट जाति के सभ्य समाज व्यवस्था की तुलना में सर्वथा अमर्यादित जीवन का रांगेय राघव ने ईमानदारी और सहानुभूतिपूर्वक वर्णन किया है। उन्होने उपन्यास में अपनी ओर से कहा है " .....ये कमीने और नीच ही आज इंसान है, इनके अतिरिक्त सब में पाप घुस गया है .. .... ये जिस दिन जान जाएगे कि मनुष्यत्व क्या है उस दिन नया मनुष्य उठ खड़ा होगा"।[56]

'सागर, लहरें और मनुष्य' उपन्यास को उदयशंकर भट्ट ने अपनी रचनाशीलता के लगभग आखिरी दौर में लिखा और इस उपन्यास को पर्याप्त ख्याति मिली। इस उपन्यास में बम्बई के निकट सागर तट पर अवस्थित बस्ती बरसोवा के जनजीवन का यर्थाथ चित्रण है। इस उपन्यास में लेखक ने मछुवारों की गरीबी, अशिक्षा और शोषण का भी सजीव चित्र प्रस्तुत किया है। यौन सम्बन्धों की दृष्टि से इस बस्ती के स्त्री और पुरूष पूर्णतः स्वतंत्र और स्वच्छंद हैं किंतु उनकी यह स्वच्छंदता उनका शौक नहीं विवशता है। पुरूष मक्खियाँ मारते रहते हैं और स्त्रियां अस्मत का व्यापार करती हैं। फिर भी पेट की आग पूरी कर सके इतना वे जुटा नहीं पाते। इट्ठा जैसी कितनी कोलिने शरीर व्यापार को शारीरिक श्रम की तरह स्वीकार कर चुकी हैं।

भगवतीचरण शर्मा ऐसे लेखक हैं जिनके उपन्यासों में वास्तविकता का चित्रण है। वह अपनी मान्यताओं के कारण नियतिवादी उपन्यासकार माने जाते हैं। व्यक्ति को परिस्थितियों और प्रवृत्तियों का दास मान कर चलते हैं। अर्थ पिशाच सभी मानव मूल्यों को लील लेता है – ऐसा वह मानकर चलते हैं। समाज में व्याप्त खोखलेपन को वह सापेक्ष भाव से व्यक्त करते हैं। उनके 'भूले

---

[56] 'कब तक पुकारूँ' पृ. – 634

विसरे चित्र' 'सीधी सच्ची बातें 'तथा 'सबहीं नचावत राम गोसाई' आदि उपन्यासों में दलित वर्ग का चित्रण अपनी इसी मान्यता के अनुरूप हुआ है।

'भूले बिसरे चित्र' उपन्यास में परिवार की चार पीढ़ियों की कथा हैं ये पीढियाँ अपने समसामयिक संघर्षो एवं परिस्थितियों के तनाव में ही उठती – गिरती हैं। इस परिवार से अभिन्न रूप से जुड़ा है एक कहार परिवार, जो मुंशी शिवलाल, उनके पुत्र ज्वाला प्रसाद, पौत्र गंगा प्रसाद, प्रपौत्र नवल के यहाँ घरेलू नौकर के रूप में जीता मरता है पूरी निष्ठा और अकेलेपन के साथ।

'सीधी सच्ची बाते' में दलित वर्ग का चित्रण हुआ है – व्यक्ति विशेष को लेकर नहीं, सामाजिक वैषम्य की ओर संकेत करने की गरज से। उपन्यास के पात्र जगत प्रकाश के सामने उसके गाँव और समाज का चित्र उभर आया है यहां ब्राह्मण अपने को देवता कहता है, यहां क्षत्रिय अपने को राजा कहता है यहां बनिया अपने को धनपति कहता है, और फिर आता है शूद्र यह अपने को सेवक कहता है अपने को गुलाम कहता है। यह पतित है, यह कायर है, यह निर्धन है। बात यहीं खत्म नहीं होती – इन शूद्रों के बाद आते हैं अछूत – धानुक, चमार, पासी, इनसे भी नीचे हैं – चाण्डाल। इन लोगों को छुआ तक नहीं जाता। "इस विभेद का स्रोत कहाँ हैं? जगत प्रकाश के सामने यह प्रश्न था। जगत प्रकाश को लगा कि इस समस्त विभेद का स्रोत मनुष्य की सामर्थ्य क्षमता शारीरिक और बौद्धिक बल में है जो शक्तिशाली और समर्थ है वह श्रेष्ठ है। जो निर्बल और असमर्थ है वह पतित है। "[57]

वर्मा जी के 'सबहीं नचावत राम गोसाई ' उपन्यास में दलित वर्ग की एक पात्री भंवरी है जो राजनीतिक सत्ता का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्र जबर सिंह की माँ है। यह दलित पात्री भंवरी उपन्यासकार के हाथों में कठपुतली बन कथा को आगे तो बढाती है लेकिन लेखक उसे अपनी सहानुभूति देने में कृपण ही रहा है। यही नहीं आगें चल कर जबरसिहं की पत्नी द्वारा उसके ठाकुर होने पर संदेह करने की बात प्रकारान्तर से भंवरी पर आक्षेप ही कहा जाएगा।

फणीश्वरनाथ 'रेणु' का 'मैला आँचल' उपन्यास आंचलिक उपन्यासों की सृजनयात्रा का प्रारम्भ है। इस उपन्यास में दलित वर्ग का पर्याप्त चित्रण मिलता है। इसमें अपने परिश्रम से आबाद की गयी धरती के लिए संथालों द्वारा किये गये संघर्ष और बलिदान का चित्रण है।

---

[57] 'सीधी सच्ची बातें', पृ. – 433

जतिवाद और जातियों के पारस्परिक मतभेदों व संघर्षो का लेखक ने अपने उपन्यास में सजीव व सटीक चित्रण किया है – गाँव में विभिन्न प्रकार की जातियाँ हैं। जिनको विभिन्न टोलों का नाम दिया गया है – "मालिक टोला" , 'कायस्थ टोला', यादव टोला,[58] राजपूत टोला, धनुकधारी टोला, [59] दुसाध टोला और कोयरी टोला आदि।[60] गाँव के सभी बडे– बडे किसानों का अपना मज़दूर टोला है। सिंह जी का ततमा और पासवान टोला, धानुक टोला, कुर्मी टोला, और कियोर टोला, खेलावन यादव का गुआर टोला और कोयरा टोला। संयाल टोला पर किसी का खास अधिकर नहीं।[61] इन जातियों में आपस में झगड़े भी होते रहते हैं। लड़ाने का कार्य ब्राह्मणों का है क्योंकि उनकी संख्या सबसे कम है। पिछडी हुई जातियां उठ रही है जिनमें एक विचित्र प्रकार की प्रतिक्रिया का भाव है जिससे वे अपनी शक्ति का दुरूपयोग कर बैठती हैं। यादव टोली के लोगों का बात – बात पर लाठी निकाल लेना इसका उदाहरण है।

'मैला आंचल' के कथा क्रम में चार पीढी पूर्व संथाल लोग मेरी गंज की धरती पर बसे थे। जमींरदार ने उन्हें इस लिए बसाया था कि उनके घोर परिश्रम से वन खण्ड को लहलहाते खेतों में परिवर्तित किया जा सके इन लोगों ने सैकडों वीघे जमीन आबाद की परन्तु जमीन के मालिकों, जमीन के व्यवस्थापकों और धरती के न्याय ने धरती पर इनका किसी किस्म का हक जमने नहीं दिया।

संथाल संघर्ष की राह पर चलते हैं किंतु भ्रष्ट और अन्यायपरक व्यवस्था से संघर्ष करना क्या आसान है? संघर्ष का रास्ता अपना कर भी संथालों को अपनी ज़मीन नहीं, जेल मिलती है। किंतु यह संघर्ष विफल होकर भी व्यर्थ नहीं जाता। तहसीलदार विश्वनाथ प्रसाद के जँवाई और उत्तराधिकारी के रूप में डा. प्रशान्त कुमार संथालों को उनकी जमीन सौंप देता है। इस प्रकार लेखक ने आदर्श और आशावदिता का सहारा लेकर उनके संघर्ष को व्यर्थ नहीं होने दिया है।

रेणु का 'परती परिकथा' उपन्यास भी आंचलिक है। इसके कई पात्र और वर्ण ऐसे है जो दलित हैं। इन दलितों में समय के साथ आने वाली चेतना के सुस्पष्ट चित्र देखने को मिलते हैं।

---

[58] 'मैला आँचल' पृ. – 10
[59] वही, पृ. – 17
[60] वही, पृ. – 20
[61] वही पृ. 60

सवर्ण सुवंशलाल के साथ महीचन चमार की पुत्री मलारी का प्रेम और तत् पश्चात कचहरी विवाद एक ऐसा ही चित्र है।

यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' का उपन्यास 'पत्थर के आँसू' की कथा एक ऐस दलित एक ऐसे दलित वर्गीय युवक के प्रतिशोध की कथा है जिसकी बहन राजस्थान के कामांध एवं निरंकुश रजवाड़ों की कामवासना की बलिवेदी पर बलि चढ़ा दी जाती है। इस उपन्यास की कथा में छोटी जातियों की स्त्रियों पर किये जाने वाले नृशंस एवं पैशाचिकं व्यवहार का चित्रण किया गया है। "टोली जाति की स्त्रियों को नंगी होकर नाच करने पर विवश किया जाता था, इन स्थितियों का चित्रण इस उपन्यास में हुआ है।"[62]

भैरव प्रसाद गुप्त के उपन्यास मार्क्सवादी विचारधारा के आधार पर समाजवादी परम्परा में आते हैं। इनमें आधुनिक समाज व्यवस्था का चित्रण आर्थिक संगठन की पृष्ठभूमि में किया गया हैं सामाजिक विसंगतियों की व्यंजना समाजवादी चितंन से प्रभावित है।[63]

गुप्त जी के 'सत्ती मैया का चौरा' उपन्यास में कैलसिया और बसमतिया नामक दलित पात्र अनपढ़ और जाति से नीच हैं फिर भी मन्ने जैसा एम. ए. पास विवेकशील और विचारशील युवक स्वंय को उनके सामने बौना पाता है। उपन्यास में उच्चवर्ग और दलित वर्ग के बीच किसी प्रकार के संघर्ष का चित्र नहीं मिलता। वैयक्तिक स्तर पर दलित व उच्चवर्ग के बीच कोई संघर्ष दिखाई देता है तो वह नैतिक मूल्यों को लेकर है। दलित पात्र दीनहीन होकर भी नैतिक मूल्यों के प्रति आस्थावान हैं जबकि तथाकथित उच्चवर्ग के व्यक्ति इस दृष्टि से दीन और शिथिल दिखाई पडते हैं।

रामदरश मिश्र उन आँचालिक उपन्यासकारों में परिगणित होते हैं जिन्होंने वर्तमान सामाजिक व राजनैतिक व्यवस्थाओं में आयी विषम विकृतियों का बडी सूक्ष्मता से वर्णन किया है। मिश्र जी के उपन्यास 'जल टूटता हुआ' में दलित वर्ग का चित्रण शोषित वर्ग के रूप में हुआ है जो सम्पन्न और अपने को सवर्ण कहने वालें ब्राह्मणों व ठाकुरों की हलवाही करता है। इनका जीवन बंधुआ श्रमजीवियों जैसा है। "उच्च वर्ण के लोग उन्हे सदा के लए हर प्रकार का छल

---

[62] देवदत्त शर्मा, –'हिन्दी के सामन्ती चेतना परक उपन्यास, ' पृ. – 63
[63] डा. सुषमा धवन –'हिदी उपन्यास, पृ. 309

छद्म करते हैं तथा अन्याय व आतंक का भी सहारा लेते हैं। स्वतंत्र भारत में प्रजातंत्र के नाम पर उनका राजनीतिक शोषण होता हैं निम्न एवं दलितवर्ग के प्रति लेखक की सहृदयता, सर्वत्र देखने को मिलती है।"[64]

'सूखता हुआ तालाब' में रामदरश मिश्र जी ने अभिशप्त वर्ग की धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक सभी तरह की पीड़ा को मानवीय धरातल पर लाकर अभिव्यक्ति दी है। गाँव के तथाकथित सवर्णों के पतित होने के बावजूद दलित वर्गों में अभी तक मानवता शेष है। सवर्ग कलावती अपने चचेरे भाई धर्मेन्द्र से गर्भवती होकर गर्भ गिरा देती है – यही हाल मोती लाल की भयह का है। लेकिन पेट की भूख के कारण कइयों की अंकशायिनी होने और फल स्वरूप माँ बनने के बाद चेनइया चमारिन न तो गर्भपात कराना चाहती है न उसके पिता का नाम बताना चाहती है। इस कारण उसे गाँव छोड़कर जाना पड़ता है।

हरिजनों और सवर्णो के इस तुलनात्मक चित्रण के माध्यम से लेखक यह कहने में सफल हुआ हैं कि दलितों में अभी न्याय, नीति, और विवेक विद्यमान है जबकि समानता का दम्भ भरने वाले इन सबको घोलकर पी गये हैं , और उनमें स्वार्थ और लोलुपता ही शेष रही है।

श्रीराम शर्मा 'राम' का उपन्यास 'नदी का मोड़' सामान्य नारी रमिया के महान बनने की कथा है, उसी की जाति, ठाकुर जाति का एक व्यक्ति जीवन महतो, छोटू डोम की पत्नी के साथ अभद्र व्यवहार एवं बलात्कार करने का प्रयास करता है, प्रत्यक्षदर्शी होने के कारण पंचायत में वह बिना लाग लपेट के सत्य कह कर जीवन महतो को दोषी करार देती है। पंचायत में ही डोमों और ठाकुरों के बीच इसी बात का लेकर लाठियों चलती हैं तो "पहली लाठी अपने पर झेल कर सारे विवाद का अन्त कर देती है।"[65]

गेविंद वल्लभ पंत ने अपने उपन्यास 'जुनिया ' को इस चिंतन सारिणी के सहारे खड़ा किया है कि हिन्दू लोग यदि दलित वर्ग के प्रति अनुदार बने रहे तो अनादर उन्पीड़न शोषण से त्रस्त दलित जन अन्य धर्मो की शरण में चले जाएगें। इस उपन्यास का प्रमुख पात्र जुनिया लेखक की विचारधारा का अनुगामी होकर ईसाई हो जाता है तथा उसे हिन्दू धर्म से इतनी घृणा हो जाती

---

[64] डा. ज्ञानचंद गुप्त, –'आँचलिक उपन्यास संवेदना और शिल्प', पृ. – 90
[65] 'नदी का मोड', पृ. 38

है कि वह मरते समय अपने बच्चों व पत्नी पर अन्तिम इच्छा यह प्रकट करता है" – .... वहाँ मेरी कब्र बना देना। उस कब्र के निकट देवदारु का एक वृक्ष लगा देना और एक पत्थर पर "जूनिया" एक गरीब इसाई खुदवा कर वहाँ लगा देना।[66]

'अलग–अलग वैतरणी' शिव प्रसाद सिंह का पहला और समर्थ उपन्यास है। इस उपन्यास में लेखक ने सरैता गाँव की धरती और जनजीवन का चित्रण किया है। इसमें दलित वर्ग की स्थिति सर्वथा साधनहीन वर्ग की स्थिति है। घृणा हिंसा और आतंक की मार ऊपर से सवर्ण लोगों का अत्याचार लड़ते हैं। इन सब के बावजूद दलित वर्ग में चेतना आयी है इन सब प्रकार के अन्यायों से जूझने मुक्त होने की। इन सब तथ्यों का विस्तृत फलक पर चित्रण इस उपन्यास में हुआ है।

अहिन्दी भाषी लेखक डा. आरिगपूडि ने अपने उपन्यासों 'नदी का शोर' और 'अभिशाप' में दलित वर्ग का पर्याप्त चित्रण किया है। 'नदी का शोर' की मूल कथा गाँव के विकास हेतु नदी पर बाँध बनने व उसको तोड़ने के षडयंत्र से जुड़ी हैं। इस कथा के समान्तर हरिजनों के में पैदा हुई चेतना की कथा भी चलती है।

'अभिशाप' डा. आरिगपूडि का एक सशक्त उपन्यास है जिसमें भारतीय समाज के जातिय सम्बन्धों का विस्फोटक चित्रण है साथ ही साथ सरकार द्वारा समाज कल्याण के जो क्रिया कलाप चलाए जा रहे हैं उनमें व्याप्त भ्रष्टाचार, व्यभिचार तथा पाखण्ड का बेलाग वर्णन भी है। इस उपन्यास में डा. आरिगपूडि ने अछूत कहे जाने वाले दलितों में समय के साथ आयी जागृति का सुन्दर ढंग से चित्र.ण किया है। यह चित्रण पूरी सहानुभूति और संवेदना के साथ होने के कारण कहीं भी ओढ़ा हुआ नहीं लगता।

लेखक मधुकर सिंह रचित तीन उपन्यासों 'सबसे बडा छल' (1975), 'सोनभद्र की राधा' (1976), 'सीताराम नमस्कार' (1977) में दलित वर्ग का चित्रण हुआ हैं। सबसे बडा छल' में बिहार के गाँवों में पल रही स्वार्थ लिप्सा, उससे जुड़े ईर्ष्या–द्वेष, घृणित राजनीति के विद्रूप का यर्थाथ अंकन हुआ है। इसमें दलित वर्ग की भूमिका शोषित की ही रही है। सर्वहारा दलित वर्ग कीड़े – मकोड़ों की तरह पिसा जा रहा है। उसके नागरिक व मौलिक अधिकार अभी तक सवर्णो और

---

[66] डॉ. सुरेश सिन्हा –'हिन्दी उपन्यास', पृ., 332 – 333

समश्र्यंवानों के यहाँ बन्दी हैं। छोटी और दलित जातियों के लिए सवर्णो और सामर्थ्यवानों से लड़ाई किसी स्वार्थ से प्रेरित नहीं है वरन् यह उनके अस्तित्व की लड़ाई है। इन सभी तथ्यों का चित्रण उपन्यास में किया गया है।

'सोनभद्र की राधा' नामक उपन्यास एक ब्राह्मण कन्या द्वारा चमार युवक को अपना पति वरना करने की साहसिकता से समन्वित एक आदर्शवादी उपन्यास कहा जा सकता है जो हिन्दी उपन्यासों की एक लम्बी यात्रा और लेखने में आयी चेतना का परिचायक है।

दामोदर सदन का 'नदी के मोड़ पर' उपन्यास मध्य प्रदेश के भील आदिवासियों को लेकर लिखा गया है लेखक ने इस उपन्यास के माध्यम से भीलों के चारित्रिक एवं जातिगत विशेषताओं के अंकन के साथ – साथ व्यवसायियों व पुलिस द्वारा किए जाने वाले शोषण का चित्रण किया है। समय के साथ आदिवासियों में आम आर्थिक व राजनैतिक चेतना की झाँकी भी लेखक ने इस उपन्यास में चित्रित की है। उपन्यास की कथा अमली के प्रेम और स्वच्छंद यौन सम्बन्धों से आरम्भ होती है। अमली पुलिस के बर्बर बलात्कार का शिकार होती है उसका बदला उसका भतीजा रामसिंह लेता है वह भीलों में आर्थिक विकास के प्रति चेतना भी लाता है।

राजकुमार 'भ्रमर' ने अपने उपन्यास भोगिया' के माध्यम से समाज की उस दुरावस्था का चित्र खीचां है जिसके कारण दलित व असहाय युवक को मजबूरन अपराधी वृत्ति अपनानी पडती है। इस उपन्यास का पात्र मोतिया परिस्थितिवश डाकू बन जाता है। जिसकी जिम्मेदार अमानवीय जाति व्यवस्था है।

मन्नू भण्डारी कृत 'महाभोज' उपन्यास मूलतः राजनैतिकं पाखण्ड की निर्ममता से परते उखाड़ कर आजके तथाकथित राजनेताओं की घृणित तस्वीर प्रस्तुत करता है। इसमें एक महत्वपूर्ण घटना है भूपति जोरावर सिहं द्वारा गरीब और श्रमजीवी हरिजनों की बस्ती में भयंकर अग्नि काण्ड करना। इसी घटना से जुडी है विशेश्वर उर्फ विसु की मौत। जिसे दा साहब व शुक्ल जी अपने – अपने ढंग से आने वाले चुनाव के लिए अपने हक में भुनाना चाहते हैं जिस तरह किसी पशु की मृत्यु पर गिद्ध मांस भक्षण के लिए उसके शव पर टूट पड़ते हैं। स्पष्ट है कि आज के इस प्रजातांत्रिक युग में भी गरीब और श्रमजीवी दलित वर्ग के व्यक्ति के प्राणों का महत्व किसी निरीह पशु से अधिक नहीं हैं।

भीष्म साहनी के उपन्यास 'वसंती' की नायिका बसंती जिस जाति की है वह दलित वर्ग में परिगणित होती है, दिल्ली जैसे महानगर में नये – नये सेक्टर और कालोनिया बनने के कारण आए दिन टूटती झुग्गी बस्तियों में टूटते गरीब लोगों, रिश्ते– नातें, सपनों और घरौंदों के बीच लेखक के कथनानुसार मात्र बसन्ती ही है जो साबुत नज़र आती है। वह अपने परिवार, परिवेश और परम्परागत नैतिकता से विद्रोह करती है। यह विद्रोह उसे दैहिक और मानसिक शोषण तक ले जाता है पर उसकी निजता को कोई हादसा तोड़ नहीं पाता। बसन्ती और उसकी झुग्गी'– झोपड़ी की बिरादरी की परम्परागत दलित वर्ग में. नहीं आते। ये वे दलित हैं जो अब आकार ग्रहण कर रहे हैं।

अतः निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि प्रेमचन्द के अतिरिक्त अन्य उपन्यासकारों द्वारा भी दलित वर्ग के चित्रण को विविध आयाम दिए गए। इनमें से कुछ को (मनुष्यानंद, चतुरी चमार) सम्पूर्ण रूप से दलित उपन्यास कहा जा सकता है। फिर भी इन पर सरसरी नजर डालने से यह दिखाई देता है कि गैर दलित द्वारा दलितमन की अभिव्यक्ति और पुरूषों द्वारा नारी मन की अभिव्यक्ति का प्रयास कृत्रिम और भावुक ही रहा है। प्रेमचन्द के बाद दलित समस्या केन्द्रीय रूप में हिन्दी साहित्य से नदारद हो गई। यह एक विडम्बना ही कही जायेगी क्योंकि उस समय गांधी और अम्बडेकर दलित समस्या से अपने – अपने स्तर पर टकरा रहे थे। एक बात और कि जब हिन्दी साहित्य दलित महापुरूषों के आन्दोलन और प्रभाव को नोटिस नहीं लिया तो दलितों की समास्याओं को वे कैसे उठा सकते थे ? हम जातिवादी मानसिकता और पूर्वाग्रह से कभी मुक्त नहीं हो पाए। ऐसे में लेखकीय ईमानदारी का निर्वाह असंभव है।

हिन्दी साहित्य सिर्फ गाँधी और उनके अछूतोद्धार आन्दोंलन से प्रभावित हुआ, न की डा. अम्बडेकर या फिर ब्लैक लिटरेचर से प्रभावित हुआ। इसलिए गाँधी के मंदिर प्रवेश आंदोलन की धूम प्रेमचन्द से लेकर अन्य परवर्ती लेखकों तक में दिखाई देती है। हिन्दी में प्रगतिशील आन्दोलन, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, मार्क्सवाद ... चले, लेकिन सारी प्रगातिशीलता में "मैं" निहित रहा। 'हम' की बात ही नहीं की गई। इसके बावजूद हिन्दी में दलित साहित्य प्रचुर मात्रा में होने का दावा किया जाता रहा हैं। यह दावा प्रेमचन्द, नागार्जुन–उपर्युक्त उल्लिखित छिटपुट उपन्यासों के आधार पर किया जाता है। इन उपन्यासों में दलितों का चित्रण मसीहाई अंदाज में किया गया है। दलित शोषण के नाम पर जमीदारों और ठाकुरों की बहादुरी का गान किया गया है। दलितों की दीन –

हीन दशा को उनकी नियति और विधाता की देन बताकर उनकी धार को कुंद कर दिया गया। दलित स्त्री तो मात्र भोग वस्तु के रूप में हिन्दी साहित्य में आयी।

अतंतः यह कहने में कोई संकोच नहीं कि दलित पात्र अधिकतर सवर्णो के निमित्त है या तो वे सवर्णो में करूणा जगाने के लिए या उनका संस्कार करने के लिए, उनकी उदारता, महानता दिखाने के लिए। दूसरे शब्दों में सब्जेक्ट नहीं बने ऑबजेक्ट ही रहे। अर्थात हिन्दी साहित्य को पढ़ने के बाद हम यह नही जान सकते कि दलित अपने बारे में क्या सोचते हैं ? क्या महसूस करते हैं? क्योंकि जो कुछ उसमें अभिव्यक्त हुआ वह सवर्णो के मन से ही निकला है।

स्वंतत्रता के बाद स्थिति में परिवर्तन आया, लेखकीय दृष्टि में भी बदलाव आना स्वभाविक था। दलित भी अपने मानवीय अधिकारों के प्रति सजग हुए। जिसके फलास्वरूप साहित्य समाज और राजनीति में उनकी उपस्थिति दर्ज हुई। हिन्दी साहित्य भी इससे अछूता नहीं रह सका। दलित जो पूर्व में मात्र दया और करूणा के पात्र थे, अब अपने अधिकरों के लिए संघर्ष करते नजर आते हैं। जिसको समग्रता से अस्सी के दशक में अमृत लाल नागर गिरिराज किशोर, गोपाल उपाध्याय, रमेशचन्द्र शाह आदि लेखको ने चित्रित किया।कुल मिलाकर इन लेखकों ने प्रेमचन्द की परम्परा जो लगभग समाप्त हो गई थी , को पुर्नजीवित करते हुए बखूबी निर्वाह किया।

अध्याय – तीन

दलित चेतना के परिप्रेक्ष्य में प्रमुख स्वातंत्रयोत्तर उपन्यासः

यथार्थ बोध, शिल्प और भाषा

दलित चेतना यदि हर्बर्ट मार्क्यूस के शब्दों में कहें तो "एक प्रति सांस्कृतिक चेतना है, और इसलिए विद्रोही भी है[1] इस चेतना की जड़ में भारतीय सामाजिक संरचना है, जो न सिर्फ जाति पर आधारित है, बल्कि इसको धार्मिक वैधता भी प्राप्त है। समाज में जातिव्यवस्था सामाजिक दुराव के सिद्धान्त पर आधारित है। प्रो. एम. एन श्रीनिवास के शब्दों में "जाति भारतीय जीवन शैली का सामान्य मुहावरा है[2]। यह हमारे सामाजिक संबंधो को ही नहीं बल्कि धार्मिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक पक्षों को भी प्रभावित करती है। वह गुलामी की सम्पूर्ण व्यवस्था है,। हिन्दू समाज व्यवस्था में प्रारम्भ से ही धर्म प्रधान और अर्थ गौण रहा है। व्यवहारिक स्तर पर हिन्दुत्व की जो अवधारणा आम आदमी तक पहुँचती हैं वह बहुत हद तक जातिय आचार–व्यवहार और संस्कार से परिसीमित हुई रहती है। स्वतंत्रता के बाद भी यह स्थिति किसी न किसी रुप में बनी हुई है। अर्थात बदलाव के बावजूद दलित वर्ग को मूलभूत सुविधाओं से वंचित रखने का प्रयास जारी है। इसकी पड़ताल विभिन्न लेखकों की कृतियों के आधार पर निम्नवत है।

1. भूमि के स्वामित्व का सवालः घरती धन न अपना

भारतीय समाज में धर्म और जाति के नाम पर एक छोटे किन्तु सशक्त वर्ग द्वारा बहुसंख्यक कमजोर वर्ग पर सदैव शासन किया गया और इसका विरोध करने वालों को अंधकार के गर्त में धकेल दिया गया। किन्तु समय के साथ इस शोषित–उत्पीड़ित वर्ग में भी चेतना के अंकुर विकसित हुए।

---

[1] प्रो. एम. एन श्रीनिवास – आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन, पृ. – 12
[2] वही, पृ. 15

आजादी के बाद हमारे समाज में जिस तेजी से बदलाव आया उसे सहज ही देखा जा सकता है। इस बदलते परिप्रेक्ष्य में जगदीश चन्द ने अपने साहित्य के माध्यम से दलित चेतना को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया। धरती धन न अपना' में स्वतंत्रता के बाद इस अभिव्यक्ति की पहली गूँज है। उपन्यास का नायक काली दलितों का जीवन बदलने का प्रयास करता है। वह अपने समाज को सम्मान पूर्वक जीवन जीने की प्रेरणा देता है। चमादड़ी के लोगों को सामाजिक न्याय दिलाने का प्रयास करता है। किन्तु वह इसमें असफल रहता है। उसकी यह असफलता भी एक नए संधर्ष की शुरुआत है।

भूमि के स्वामित्व का सवाल. सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य में जिसके प्रति सबसे ज्यादा प्रतिबद्धता दिखाई देती है; वह भूमि है। चाहे वह भू–स्वामी हो अथवा भूमिहीन, जमीन से हर कोई जुड़ा रहता है। एक किसान के लिए यह मरजाद भी है। अर्थात जमीन के बिना उसकी हैसियत कुछ भी नही हैं। जिसके पास जमीन नही होती उसे लोग इसानों में भी नहीं गिनते। जगदीश चन्द ने मानव मन के इस रहस्य को बड़ी शिद्दत से उठाया है, एवं जमीन के प्रति मानवीय मोहपाश (किसानो का जमीन से लगाव) को भी दिखाया।

जगदीशचन्द अर्थशास्त्र के अध्येता रहे हैं। इन्होंने जमीन के महत्व को इसिलए भी स्वीकार किया कि इस अचल संपत्ति के मूल्य में कभी–कमी नहीं होती, बल्कि इसका मूल्य सदैव बढ़ता ही रहता है। जगदीशचन्द जमाने की बदलती रफ्तार और आजादी के बाद आए परिवर्तनों के प्रत्यक्षदर्शी रहे हैं। देश आजाद हुआ, किन्तु अपने साथ ढेर सारी समस्याएं भी लाया। जहाँ विभाजन के बाद जमीन से जुड़ी समस्याओं को लेखक ने 'धास गोदाम' और 'कभी न छोड़े खेत' में उठाया वहीं समाज में भूमिहीनों की दशा को 'घरती धन न अपना' में उठाया। समाज में इनकी दशा बद् से बद्तर है। गरीबी जहालत एवं लाचारी वहाँ आम बात है। स्वयं लेखक इस उपन्यास को लिखने का कारण बताते हुए लिखता हैं कि "मैं यह सब देखकर उद्विग्न होता था कि आर्थिक अभावों की चक्की में युग–युगान्तर से पिस रहे हरिजन अब भी मध्यकालीन यातनाओं को भोग रहे हैं।" उन्होंने गाँव की जिंदगी को बड़े निकट से देखा और अनुभव किया था। इसलिए वे इनकी (चमारों) जिंदगी की तह तक जाने का प्रयास करते हैं तथा अमानवीय ढाँचे पर चोट करते हुए उनके हाथों के पीछे छिपी उनकी शक्ति का अहसास कराते हैं।

उपन्यास का मुख्य पात्र काली कानपुर के एक कारखाने में मजदूर था। शहरी वातावरण के कारण उसकी चेतना विकसित होती है। इसी कारण गाँव के अन्य लोगों से वह कहीं अधिक सजग दिखाई देता है। काली लम्बे अर्से बाद अपने गाँव चमादड़ी वापस आता है तथा अपने कच्चे घर को गिराकर पक्का बनाने की सोचता हैं। वह इस मृगतृष्णा में ऐसा उलझता है कि एक बार उसमें फंसने पर वह फंसता ही चला जाता है। काली के मुँह से पक्का मकान की बात सुनकर चाची आश्चर्य चकित हो जाती है, साथ ही चिंतित भी होती है कि " छोकरे को क्या हो गया है, वह अनहोनी बातें क्यों करने लगा है। भला आज तक इस मुहल्ले में किसी ने मकान में पक्की ईटें लगाई है।"[3] चाची की चिंता स्वाभाविक है। चमादड़ी में भू–स्वामियों का दबदबा है। काली मकान के बारे में गाँव के साहूकार से विचार–विमर्श करता है। छज्जूशाह प्रोत्साहन देने के बजाय अपना जाल डाल देते हैं और कहतें है " कालीदास जिस जमीन की तुम बात कर रहे हो वह जमीन भी तुम्हारी नहीं है। वह शमलात (गाँव के जमीदारों की साझी जमीन) जमीन है, जब तक तू या तेरे वारिस इस गाँव में रहेंगे जमीन का वह टुकड़ा रिहायश के जिए तुम्हारा है। बाद में उसका मालिक गाँव होगा,"[4] छज्जूशाह की इस बात को सुनकर काली की रही–सही हिम्मत भी जवाब दे जाती है। उसे महसूस होता है कि गाँव में उसकी हैसियत शून्य के बराबर है। जब वह अपनी कड़ियों और जमीन को देखता है तो भौचक्का रह जाता है," उसने जमीन के छोटे से टुकड़े को देखा और मुँह दूसरी ओर फेर लिया जैसे उस जमीन के साथ उसका कोई संबंध न था। दिल में धृणा और बेबसी से उसके मन–प्राण सिकुड़ने लगते हैं। वह जमीन के टुकड़े को घूरता हुआ सोचने लगा कि यह भी उसका नहीं है"।[5] जमीन न होने की वजह से उसे समाज में दुत्कारा जाता है। मुंशी भी काली को शक की निगाह से देखता हैं " वह उस पर इसलिए विश्वास नहीं करता कि वह जमीन का मालिक नहीं है।"[6] गरीब व बेहैसियत होने के कारण एक बार फिर उसे भागना पड़ता है।

अपनी जमीन न होने का दुख गाँव के दलितों को बराबर कचोटता रहता है। यह दुख उस समय और बढ़ जाता है जब गाँव के चौधरी इनका सामाजिक बहिष्कार करके अपने खेतों में

---

[3] धरती धन न अपना, पृ. 35
[4] वही, पृ. 35
[5] वही,, पृ. 55
[6] वही, पृ. 62

जंगल–पानी की रोक लगा देते हैं। इसलिए काली मानता है कि गरीब होना बुरा नहीं है, बुरा है जमीन का कोई टुकड़ा न होना।

जो बात जगदीश चन्द को प्रेमचन्द से जोड़ती है, वह स्त्रियों और दलितों की न्याय–कथा को उसकी निर्विवाद व सच्चे रुप से उपस्थित करना, जैसा कि समाज में है। प्रेमचन्द की तरह लेखक भी इनके बीच सच्चाई को परखता है। उसी के शब्दों में "मेरा किशोर मन बंधनों की इस झीनी सी दीवार को तोड़कर हरिजनों की छोटी–छोटी सीलन भरी अंधेरी कोठरियों में छिपे रहस्यों को जानने के लिए हरदम व्यग्र रहता था। लोगों की आँख बचाकर मैं उसमें गया और मन भर मैंने उन बंधनों को तोड़ा भी।"[7] इस तरह उन्होंने तटस्थ रहते हुए धोड़ेवाहा के चमारों की त्रासदी भरी जिन्दगी को उसकी सारी जटिलताओं और अन्तर्विरोधों के साथ हमारे सामने उपस्थित किया। अपने आक्रोश को व्यक्त करने के लिए उन्होंने काली जैसे सशक्त और ऊर्जावान चरित्र का निर्माण किया। वह गाँव में दलितों की आर्थिक हालत को देखा व महसूस करता है कि गरीबी बुरी है और गरीबी के साथ अगर छुआछूत भी है तो उससे बड़ा कोई अभिशाप नहीं है। चूंकि वह शहर से आया है इसलिए गाँव के चौधरी और बनिए थोड़ा सम्मान देते हैं और उसे कालीदास अथवा काली बाबू कहकर पुकारते हैं, लेकिन उससे निश्चित दूरी बनाए रखते हुए।

इस वर्ग को उपेक्षा और तिरस्कार का सामना पग–पग पर करना पड़ता है। काली चमारों की आर्थिक स्थिति पर विचार करते हुए सोचता है कि "चौधरी उसे इसलिए नीच समझता है क्योंकि वह चमार है। छज्जूशाह उसे किसी गिनती में शुमार नहीं करता क्योंकि वह गरीब है।"[8] गाँव में चमारों को कोई इंसान मानने के लिए तैयार नहीं है।

वर्णव्यवस्था के चलते ही दलित लोगों की स्थिति दयनीय और उत्पीड़न से भरी हुई है। वे इस कुचक्र से बाहर तो निकलना चाहते हैं किन्तु वे उसमें और उलझ जाते हैं। गाँव का दलित नंदन सिंह इसी अपमान और तिरस्कार से बचने के लिए पहले हिन्दू से सिक्ख बनता है, जब उसे वहां भी सम्मान व आदर नहीं मिलता तो वह ईसाई बन जाता है। किन्तु उसकी वास्तविक स्थिति में कोई अंतर नहीं पड़ता। गाँव के सभी लोग उसे चमार ही समझते हैं। धड़म चौधरी नंदसिंह को देखकर ताने कसता है "सुना चमारा ईसाई बनने के बाद कुछ फर्क पड़ा? क्या टट्ठी–पेशाब पहले

---

[7] घरती धन न अपना,, पृ. 8
[8] वही, पृ. 62

की तरह करता है या तरीका बदल गया है।[9] अर्थात चमार कुछ भी कर लें लेकिन सवर्ण मानसिकता जस की तस ही रहेगी। इसलिए बसन्ता कहता है" वाह–वाह नंद सिंधा! तेरे सिर पर अभी सींग लगे तो नही..... पागला, तो कुछ भी बन जा लेकिन रहेगा चमार का चमार ही। जात कर्म से नहीं बल्कि जन्म से बनती है"[10]

दलितों की स्थिति गाँव में ही नहीं शहरों में भी (स्वरुपगत भिन्न होते हुए) वैसे की वैसे ही है। काली गाँव से भागकर शहर आता है, वहाँ भी नारकीय स्थिति हैं " कौन मानता है कि आदमी दयालु और कृपालु बनकर चीटें–चीटियों को दाने डालता है। पक्षियों के लिए अनाज फेंकता है लेकिन आदमी का पेट भरते समय वह सोच में पड़ जाता है।"[11] दलित व शोषित को शहर में छोटा–मोटा काम मिल जाता है किन्तु उन्हें रहने के लिए आश्रय शहर से बाहर गंदी झोपड़ी–बस्ती में ही मिलता है। उन्हें निम्न से निम्नतर काम कराए जाते है। काली के प्रयासों के बावजूद उनकी आवाज एकता और आर्थिक अभाव के कारण दब जाती हैं।

पंजाब में जहाँ माना जाता है कि धर्म व जाति का बंधन कुछ शिथिल है लेकिन ऐसा नहीं है, ये सब बाहरी बातें है, सच्चाई कुछ और ही है। गाँव के जाट–जमीदार, गाँव के भूमिहीन चमारों को मानवीय अधिकारों से वंचित करने के लिए हमेशा तत्पर रहते हैं। बात–बात पर बिना किसी कारण के उनके साथ मारपीट करना व दुत्कारना वे अपना नैतिक कर्त्तव्य समझते हैं। चौधरी हरनाम सिंह सबको गालियां देता है। भय और आतंक इस कदर है कि इन सब बातों को सुनकर भी वे इसे अनुसूना कर देते हैं। जैसे कि कुछ हुआ ही नहीं। " कुछ उनमें से 'चमार' गाली सुनकर हंस पड़ते है जैसे उन पर फूल फैंका गया हो"[12] गाँव में स्थिति यह है कि गलती चाहे कोई करे कसूरवार हमेशा चमार ही माना जायेगा। चौधरी हरनाम सिंह कहता है" कान खोलकर सुन ले चौधरी के मुकाबले में गलती हमेशा कमीन की होती है।"[13] बात कहीं भी किसी संदर्भ में हो रही हो गरीबों की बेइज्जती करना हर सवर्ण का जन्मसिद्ध अधिकार है। जैसे कि लेन – देन पर छज्जूशाह कहता है "जी खोलकर खर्च करो अगर सरदार और चौधरी लोग खर्च नहीं

---

[9] घरती धन न अपना, पृ. 169
[10] वही, पृ. 2000
[11] नरक कुंड मे बास, पृ. 79
[12] घरती धन न अपना, पृ. 20
[13] वही,, पृ. 201

करगें तो कुम्हार और चमार करेगें" [14] गाँव के चौधरी वहां के दलितों को अपना खरीदा हुआ गुलाम समझते हैं। वे चाहते हैं कि उनकी आज्ञा शिरोधार्य हो। चौधरी की हवेली में काली स्थान न मिलने पर खड़ा ही रह जाता है तो उसे भलमनसाहती सिखाई जाती है। काली के विरोध करने पर वह कहता है" आज तक उसके सामने किसी कमीन या चमार ने इस ढंग से बात नहीं की थी।" [15] उनके सामने एक ऐसा समाज है जहां अपना पक्ष रखने की भी इजाजत नहीं है। काली के इस अव्यवस्था के विरोध करने पर किशन उसे समझाता है" पहलवान गाँव में रहकर चौधरियों से पंगा लेना अपनी तबाही को बुलाना है। वे जमीन – जायदाद के मालिक है और हमारे पल्ले मेहनत और मजदूरी के सिवाय कुछ नहीं। थाने जाओ तो पुलिस उनकी – कचहरी जाओ तो जज, मजिस्ट्रेट उनके हैं, कहाँ मुकाबला करोगे।"[16]

दलितों को इतना हेय माना जाता है कि पैसे से भी उन्हे चीजे नहीं मिलती है। काली को दूध देने से इंकार करते हुए हरी सिंह कहता है " गरीब हूँ तो क्या हुआ, चौधरी तो हूँ। चमार के हाथ दूध बेचूँगा तो गाँव वाले क्या कहेंगे ?[17] बेइज्जती का कारण चमार होना है। इसलिए वह कहता है" गाँव में इज्जत से रहना हो तो आदमी को जमीन का मालिक होना चाहिए। यहाँ सिर्फ जमीन और जूते की इज्जत है। बाकी चीजों की कोई नहीं पूछता"[18]।

गाँव में उनके लिए पीने का पानी भी केवल उन्हीं के कुएँ से मिलेगा। सार्वजनिक कुंओं का भी उपयोग नहीं कर सकते। वर्षा से चमादड़ी का कुँआ डूब जाता है। पीने के पानी का संकट खड़ा हो जाता है। उनके लिए एक मात्र आशा गाँव के मंदिर के कुंए से है लेकिन प. संतराम कब से मानवीय हो गए ? 'तुम मंदिर के कुएं पर चढ़ना चाहती हो'। पंडित जी क्रोध से लाल–पीला हो गए और डण्डा लेकर दौड़ा लिए। अतंतः उन्हें वहीं गंदा पानी ही पीना पड़ता है।

अन्याय के खिलाफ ग्रामीणों में अभी वह चेतना देखने को नहीं मिलती है, किन्तु काली की राजनैतिक व सामाजिक समझ ने लोगों को शोषण के खिलाफ जगाया। चमादड़ी में मजदूरी को लेकर गाँव के चौधरी और चमारों के बीच वर्ग–संघर्ष की स्थिति आ जाती है क्योंकि गाँव के

---

[14] धरती धन न अपना, पृ.. 52
[15] वही, पृ. 69
[16] नरक कुण्ड मे बास. पृ. 201
[17] धरती धन न अपना, पृ.. 165
[18] वही, पृ. 190

चौधरी दलितों से बेगार लेना चाहते थे। जिसके लिए गाँव के दलित तैयार ही न थे। तब वे उनपर भिन्न–भिन्न वर्जनाएँ लगा देते हैं। गाँव का चौकीदार ढ़ीढोरा पीटते हुए कहता है "गाँव की पंचायत ने फैसला किया है कि जमींदार, दूकानदार चमारों को अपनी हवेली, मकान, खेत और दूकान पर आने नहीं देगा। उनको काम पर नहीं लगाएगा।"[19] पंचायत का यह फेसला दलितों का आर्थिक बहिष्कार करके उन्हें कमजोर बनाने का है। 2002 में दंगा पीड़ित गुजरात में भी हिन्दू वादी संगठनो ने मुसलमानों का आर्थिक बहिष्कार करके उनकी रीढ़ को तोड़ने का कुचक्र रचा था। काली के प्रयास से गाँव वाले भी चौधरियों के सभी काम करने से इंकार कर देते है। कम्युनिस्ट उसकी आड़ में अपनी राजनीति करते हैं। बिशन कहता है ' सारी दुनिया के लोग गाँव के चमारों के साथ हैं'। इन लोगों को झूठे स्वप्न दिखाकर इनकी भावनाओं से खेलते हैं। डा. बिशन को यह चिंता है कि चमारों में से एक भी कामरेड नही है। कुछ दिन संधर्ष चलता है, परन्तु जिनकी रोजी–रोटी और जीवन प्रतिदिन की मजदूरी पर हो वे कितना दिन तक संघर्ष कर सकते हैं? संघर्ष जारी रखने के लिए काली अपने घर से लोगों को अनाज देता है। एक दिन उसका भी तो खाली हो जायेगा। अधिकांश लोग, खुद काली भी पानी पीकर भूख मिटाता है। पादरी भी अपनी रोटी ऐंसी स्थिति में सेकना चाहता है। वह कहता है 'मैं किस रिश्ते से तुम्हारे मुहल्लों वालों की मदद करुँ?' वह सबको ईसाई बनाना चाहता है। चार दिन तक संघर्ष किसी तरह चला लेकिन आगे नहीं चल सकता। अंततः हार कर वे खुद चौधरियों से काम के लिए साफा रखकर माफी माँग लेते हैं। इसके मूल में भी जमीन है अगर दलितों के पास जमीन होती तो वे अपने हक की लड़ाई जारी रखते और सफल भी होते। काली संघर्ष का बीज बोने में सफल हो जाता है लेकिन उसे परिपक्व नहीं कर पाता है। ज्ञानों के प्रेम तथा लोक के डर से ऊर्जावान काली एक रात गाँव छोड़कर भाग जाता है। यह उपन्यास का सबसे कमजोर पक्ष है।

काली जैसे संघर्षशील और ऊर्जावान चरित्र का इस तरह पलायन दलित चेतना को कुंद कर देता है। लेखक का गैरदलित पूर्वाग्रह हावी हो जाता है। अगर काली असफलता के बावजूद बार–बार संघर्ष करता तो उपन्यास दलित चेतना का सच्चा वाहक बनता। चमादड़ी केवल एक पंजाब का गाँव न होकर सारे भारत वर्ष की तस्वीर हमारे सामने उपस्थिति करता है, यह उपन्यास की बडी उपलब्धि है।

---

[19] धरती धन न अपना, पृ. 233

भाषा, शिल्प और यथार्थ बोध के स्तर पर उपन्यास प्रेमचन्द की परम्परा की अगली कड़ी लगता है। लेखक ने दलित स्थिति को आधुनिक परिवेश में चित्रित किया है। भाषा में बोल–चाल के शब्दों के साथ पंजाबी शब्दों का प्रयोग यथार्थ के करीब ले जाते हैं। पाठों के नाम, कथा भूमि के अनुकूल हैं। जिनमें क्षेत्रियता का पुट है। उपन्यास तीस अध्यायों में बंटा है। कथा सूत्र पाठक को बांधें रखता है, भटकाव की संभावना न के बराबर है। वाक्य छोटे–छोटे जीवन की सच्चाई के अुनकूल हैं–

'रात को रोटी खाई थी?

'हाँ, एक रोटी खाई थी ?

'उससे पेट भर गया था?

' नही!

अच्छा, तो ये खा लो।[20]

कुल मिलाकर लेखक अपने उद्देश्य में सफल रहा है। समाज के शोषित वर्ग का प्रामाणिक चित्रण और ग्रामीण जीवन के विभिन्न अन्तर्विरोधों का साक्षात्कार उपन्यास में होता है।

2. <u>दलित वर्ग के राजनैतिक चेतना के वृहत्तर आयामः "एक टुकड़ा इतिहास"</u>

इसका प्रकाशन 1975 में हुआ। प्रकाशनोपरान्त इसकी समीक्षा करते हुए डा. रामदरशामिश्र ने लिखा ' यह उपन्यास आधुनिक भी है और काफी असरदार भी।' इसके लेखक की राजनीतिक और सामाजिक दृष्टि बहुत साफ है और यह उपन्यास मानव अनुभवों से सघन हैं।[21]

'एक टुकड़ा इतिहास' एक दलित नारी चंदी देवी उर्फ चुनली की संघर्ष गाथा है। चुनली एक तो दलित है, ऊपर से नारी। दलित नारी के रुप में दलित और नारी का दोहरा दण्ड उसे भोगना पड़ता है। एक ब्राहमण युवक कांतमणि उससे प्यार करता है और वो घर, जाति, बिरादरी छोड़कर भाग जाते हैं। फलतः उनको जाति बहिष्कृत कर दिया जाता है। चुनली इस सामाजिक

---

[20] धरती धन न अपना, पृ. 162
[21] धर्मयुग, 8 फरवरी 1976, पृ. 54

अपमान को झेल जाती है, किन्तु कांतमणि नहीं झेल पाता और पांच–सात वर्षों के अपने सुखी दाम्पत्य जीवन के बाद चुनली व अपने बच्चे रतन को ठोकर मारकर फिर से अपनी बिरादरी में शामिल हो जाता है। यहीं से चुनली की संघर्ष गाथा प्रारम्भ होती है और वह न्याय के लिए पंचायत स्तर से लेकर प्रांत स्तर तक जाती है, लेकिन कुछ नहीं मिलता। उसकी बेबसी और औरत होने का फायदा उठाने वाले अलबत्ता बहुत मिल जाते हैं। संघर्ष के दौरान उसकी मुलाकात हरिजन कांग्रेसी नेता मुंशी राम से होती है, जिनसे प्रेरणा पाकर उसे लगता है कि उसका दुख और अपमान मात्र व्यक्तिगत नहीं है, बल्कि यह तो देश भर के दलितों की हालत की तस्वीर है.... और यही वह बिन्दु है, जहाँ से चुनली से चंदी देवी तक की विकास यात्रा प्रारम्भ होती है। स्वयं के संघर्षों के आग की तपन और देहाती औरत होने के कारण काम करने की भरसक शक्ति–सामर्थ्य थोड़े ही समय में चंदी देवी को महान नेता बना देती है। वह यह समझने लगती है कि हरिजनों की खराब सामाजिक स्थिति के लिए दो कारण जिम्मेदार है–(1) उनकी मानसिक गुलामी, जिसे धार्मिक पाखण्ड ने अपनी गिरफ्त में ले रखा है, (2) उनकी निम्न आर्थिक स्थिति, जिसके तहत उनका स्वयं की ही आजीविका के साधनों पर अधिकार नहीं है। वह मंदिर प्रवेश आंदोलन चलाती है, भूमिहीनों को तराई–भावर में जमीन दिए जाने की वकालत करती है। धीरे–धीरे उसका झुकाव समाजवाद की ओर होने लगता है। प्रजा समाजवादी पार्टी की ओर से वह चुनाव भी लड़ती है, किन्तु अपनी कमजोर आर्थिक स्थिति, जातिवाद के नारों और तमाम अवांछनीय तत्वों के आघात के सामने हार जाती है। तब वह नई पीढ़ी को समता के आधार पर शिक्षित करने का बीड़ा उठाती है। इस काम में भी गाँव–क्षेत्र के लोग अड़ंगा लगाते हैं कि डूमणी की शिक्षा पर हमारे बालक कैसे आगे बढ़ सकेंगे? उधर उसका मंदिर प्रवेश आंदोलन फिर शुरु हो जाता है। ऐसे ही एक आंदोलन के दौरान नेतृत्व करते हुए लाठी चार्ज और पत्थरबाजी में वह बुरी तरह घायल होती है अंततः दम तोड़ देती है।

संक्षिप्त कथासार से स्पष्ट है कि चुनली की सामाजिक आकांक्षा, उसके सामाजिक यथार्थ से बराबर टकराती है। यह उपन्यास दलितों की समस्या के अनेक आयामों को उद्घाटित करता है। दलितों की आर्थिक स्थिति, सामाजिक मनोदशा, उनको लेकर की जाने वाली राजनीति तथा धार्मिक बंधन– इन तमाम स्थितियों का विश्लेषण 'एक टुकड़ा इतिहास' में है। रामदरश मिश्र ने

लिखा "लेखक ने कहीं भी ऐतिहासिक सच्चाई के ऊपर अपने मनोवांछित निर्णयों को लादा नहीं है। इसलिए सही अर्थो में यह एक प्रगतिशील, सार्थक और प्रभावशाली उपन्यास बन पड़ा है।[22]

कुमाऊँ अंचल के सर्वाधिक पिछड़े हुए सल्ट क्षेत्र के स्वाधीनता आंदोलन में निभाई गई भूमिका की पृष्ठभूमि में 1942 के 'भारत छोड़ो आंदोलन' से लेकर 1958 तक के सामाजिक एवं राजनीतिक प्रभावों को लेकर इस उपन्यास का सृजन हुआ है। इस प्रकार यह उपन्यास लगभग दो दशकों की कालावधि को अपने में समेटे है।

चुनली और कांतमणि की प्रेम कथा, चंदी देवी के निर्माण की पृष्ठभूमि के रुप में है। इसमें भी सामाजिक खोखलापन, पाखण्ड और जातीय दंभ उभर कर आता हैं। चुनली को नित्यप्रति के सामाजिक अपमान का पूर्वानुमान था, इसलिए वह कांतिमणि को संचेत करती हुई अपनी आकांक्षा प्रकट करती है "कल भाई–बिरादरी, गाँव–समाज से दूर रहकर तुम उबने लगोगे। उस दिन अगर दूध की मक्खी की तरह तुमने मुझे उठाकर फेंक दिया तो मेरा क्या होगा?"[23] इस पर कांतमणि ने दोनों बाहों में चुनली को भरकर कहा" नहीं पगली, कभी नहीं। तू मेरे पास रहेगी तो दुनिया जहान को मैं लातमार दूंगा। हमेशा–हमेशा के लिए।"[24] प्रारम्भ में वह ऐसा करता है लेकिन अततः वह समाज के आगे झुक जाता हैं, और रतन चुनली, को ठोकर मारकर अपनी बिरादरी में पुनः शरीक हो जाता है लेकिन सवर्ण समाज इसकी अनुमति नहीं देता। खासकर धार्मिक और राजनीतिक लोग, जो अपने को गाँधी का अनुयायी कहते हैं। शास्त्री जी कहते है– "छुआछूत मिटाने का गाँधी जी का सपना पूरा होना तो मुश्किल है, पर गाँधी जी और हमारी सरकार कहती है तो भई कुछ करो।[25] दूसरी तरफ बाबा प्रयागगिरी कहते हैं– "उस लुहार की लड़की या उससे पैदा किए लड़के का भी हम नहीं खा सकते। आखिर हमें भी समाज में रहना है।"[26] शास्त्री जी को परलोक की चिंता अधिक सताती है–"उस लुहार की लड़की के हाथ का पानी पीकर हम अपना परलोक क्यों बिगाड़े जी।"[27] चुनली के प्रत्युत्तर पर गंगादत्त वैद्य कहते हैं –"ये क्या सोचती है कि कांग्रेसी कहेंगे तो हम डूमो को अपना माँ–बाप बना लेंगें। बात–बात पर गाँधी।[28]

---

[22] धर्मयुग, 8 फरवरी 1976, पृ. 54
[23] एक टुकड़ा इतिहास, पृ. 23
[24] वही, पृ. 23
[25] वही, पृ. 52
[26] वही, पृ. 53
[27] एक टुकड़ा इतिहास, पृ. 53
[28] वहीं पृ. 58

एक तरफ सल्ट का यह इलाका कांग्रेस का गढ़, जिसने 1942 के आंदोलन में बद–चढ़कर हिस्सा लिया था और गाँधी जी ने उसे दूसरी बारदोली या कुमाऊँ की बारदोली कहा था, दुसरी ओर इतना पिछड़ापन। यह कांग्रेसी धोषणाओं के प्रति कांग्रेसियों का ही विरक्त भाव है। समाज के ठेकेदार बहुत चालाक है। व्यवहार और सिद्धान्त दो स्तरों पर जीवन जीते हैं। सिद्धान्त के स्तर पर उनसे चुनली को कांतमणि से अपनी शादी को प्रमाणित करने को कहते हैं। उन्हें पता है कि वह ऐसा नहीं कर सकती क्योंकि पंचायत से लेकर अदालत तक वहीं लोग बैठे हैं। उसके पास कोई प्रमाण नहीं है, सिवाय रतन के उनकी नजर में यह कोई प्रमाण नहीं है? क्योंकि रंडियों की क्या औलाद नहीं होती'?[29] ऐसे समाज में इससे अच्छी उपाधि चुनली को नहीं मिल सकती थी।

'एक टुकड़ा इतिहास' मूलतः सामाजिक उपन्यास है। यद्यपि समाज के अन्य पहलुओं– धर्म, राजनीति आदि की उपेक्षा नहीं की है। यह उपन्यास मुख्यतः हरिजनों की सामाजिक समस्याओं से जुड़ता है। इसी समस्याओं के विरोध में दलित चेतना राजनीतिक रुप में सामने आती है। लेखक ने सामाजिक समस्याओं के प्रसंग में आर्थिक अभाव को भी उठाया है। चुनली भूमिहीनों को जमीन दिलाने के लिए आंदोलन चलाती है परन्तु यह आंदोलन मंदिर आंदोलन के सामने बौना पड़ जाता है जबकि चुनली यह जानती है कि दलितों की मुक्ति का आंदोलन बिना आर्थिक आत्मनिर्भरता से नहीं हो सकता। वह साफ–साफ ऐलान करती है कि 'हम बीठों की गुलामी नहीं करेंगे, हमारे पास जमीन नहीं है, हमे पेट पालने को जमीन दो।[30] लेकिन लेखक ने मंदिर प्रवेश के आगे इसे तुच्छ बना दिया है।

राजनीति विचारधारा के केन्द्र में 'एक टुकड़ा इतिहास' को देखा जाय तो उपन्यास की नायिका चंदी देवी की संघर्ष सामाजिक आंदोलन के साथ शुरु होता है। दलित के रुप में और दलित के पक्ष में उसका संघर्ष भी इसकी राजनीतिक भूमिका को उभारा है। उपन्यास की केन्द्रीय कथा की पूर्वपीठिका भी क्षेत्रीय है। उसकी विचारधारा के विकास में अनेक सामजिक शक्तियों, सामाजिक स्थितियों और उसके वैयक्तिक संघर्ष की महती भूमिका हेाती है। "यह उपन्यास भी

---

[29] एक टुकड़ा इतिहास, पृ. 86
[30] वही, पृ. 101

राजनीतिक शब्दावली में पक्षधर उपन्यास है। इसके केन्द्र में डूमणी चुनली की संघर्ष कथा है, और लेखक विविध प्रकार से उसके साथ है– आदि से अंत तक उसके साथ है।"[31]

'एक टुकड़ा इतिहास' में राजनीतिक विचारधारा के अनेक स्तर हैं। जहां कांग्रेसी राजनीति केन्द्र में है वही समाजवादी पार्टी और कम्युनिस्ट पार्टी गौण रुप में आई है। राजनीति इन्ही तीनों स्तरों पर चलती है। चंदी देवी पहले कांग्रेस से जुड़ती हैं, फिर समाजवादी पार्टी के संपर्क में आती है और अंत में कम्युनिस्ट नौटियाल का सहयोग लेती है। यही तीनों विचारधाराएं उपन्यास में दलित समस्याओं को अपने–अपने तरीके से देखती है।

उपन्यास में प्रमुख तौर पर कांग्रेसी राजनीति की चर्चा है। यह उपन्यास शुरु ही 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन की पृष्ठभूमि में हुआ हैं लेकिन कांग्रेसियों की कथनी और करनी में बड़ा अंतर है। कांग्रेसी नेता नेताराम भरी सभा में चुनली को आश्वासन देते हैं कि 'कांग्रेस अछूतों को बराबरी का दर्जा देगी और उसके साथ रोटी–बेटी का व्यवहार करेगी'।[32] लेकिन व्यवहारिक स्तर पर कुछ नहीं होता है। कांग्रेस के जरिए ही उसकी राजनीतिक भूमिका की शुरुआत होती है। उसकी राजनीतिक और सामाजिक पहचान तब बनती है जब वह कांग्रेस की छांव में आती है। यहीं उसे कांग्रेस की वास्तविकता का पता चलता है। जो इस क्षेत्र के नहीं है। उन्हें जोड़ तोड़ से टिकट मिलता है। उसका कांग्रेस से मोहभंग होता और अतंतः कांग्रेस के खिलाफ समाजवादी पार्टी की ओर से चुनाव लड़ती हैं। कांग्रेस की तरह इस पार्टी की भी दलितों के लिए कोई ठोस राजनीति नहीं है। वह सशर्त काम करने पर तैयार होती है "प्रथम समाजवादी पार्टी हरिजन समस्याओं को अगले चुनावी घोषणा पत्र में प्रमुख स्थान दे।[33] लेकिन ढाक के वही तीन पात।

उपन्यास पर सर्वाधिक प्रभाव गाँधीवादी विचारधारा का है। लेकिन यह प्रभाव स्थूल नहीं है। जहाँ मुंशी तक के लिए गाँधी माँ–बाप थे, वहां आगे चलकर पूरे देश में शूद्रता, स्वार्थ और अवसरवादिता के लिए वह गाँधी के अधकरचरे नेतृत्व को दोषी ठहराते हैं। चंदी देवी भी प्रारम्भ में गाँधी के मंदिर प्रवेश, सार्वजनिक कुओं को दलितों के लिए खोलना – पाठशालाओं में प्रवेश को लेकर संघर्ष करती है और 'गाँधी को देवता मानने लगती है'। लेकिन उसका भी मोहभंग होता है।

---

31 धर्मयुग,त्र 8 फरवरी 1976, पृ. 55
32 एंक टुकड़ा : इतिहास, पृ. 197
33 वहीं, पृ. 207

'एक टुकड़ा इतिहास' को गोदान की परम्परा का उपन्यास कहा जा सकता है। दोनों में ट्रेजडी यथार्थ कोटि की है, दोनों के पात्रों और घटनाओं के संघटन में समानता है। चंदी देवी ने भी दुख सहे और आजीवन उनसे लड़ती रही। लेकिन उसकी ट्रेजडी उसकी मौत के बाद भी समाप्त नहीं होती। मरने पर उसकी लाश को कोई कंघा देने के लिए तैयार नहीं होता है। अंततः लाश को अनाथों की तरह गड्डे में डाल दिया जाता है। डूमों में आत्मविश्वास पैदा करने और आत्मसम्मान की भावना जगाने के उद्देश्य से चंदी देवी ने जिस सामाजिक संघर्ष की नींवं रखी थी,। उसकी परिणति इस रुप में हुई। यह उपन्यास की ट्रेजडी का चरम रुप था। वस्तुतः उपन्यास की ट्रेजडी महत्वपूर्ण पक्ष है लेकिन उससे भी महत्वपूर्ण यह है कि दुखों के खिलाफ संघर्ष करने की आकांक्षा या चेतना उपन्यास में आद्यांत मौजूद है। वह न केवल भविष्य के प्रति आशान्वित रहती है बल्कि संघर्ष को आगे बढ़ाने की जिम्मेदारी भी वह नई पीढ़ी (रतन) पर छोड़ देती है।

एक टुकड़ा इतिहास वर्णनात्मक शैली में लिखा गया है। डा. रामदरश मित्र इसे शुद्ध रुप से वर्णनात्मक उपन्यास मानते हुए लिखा" उसकी वर्णनात्मक पारम्परिक शैली की है"[34] इस पारम्परिक शैली के प्रभाव के कारण "आज तक विकसित औपन्यासिक शिल्य के विभिन्न रुपों के ग्रहण से उदासीन यह उपन्यास सीधे सीधे सरल ढंग से आगे बढ़ता रहता है।"[35]

उपन्यास में शिल्प अलग से आरोपित नहीं है। मोटे तौर पर यह प्रेमचंदीय शैली में लिखा गया उपन्यास है, जिसमें कथा का क्रमशः विकास होता है। एक कथा का एक ही दिशा में विकास होता है। वर्णनात्मक शैली के कारण लेखक को यह सुविधा रही है कि वह पात्रों के चरित्र, उपन्यास के वातावरण और उसके उदेद्श्य को अधिक सुस्पष्ट कर सके। उपन्यास में शैली की चटक – मटक नहीं हैं, यह आड़ी – तिरछी रेखाओं की पच्चीकारी से मुक्त है, सीधी – सरल रेखाओं की कलात्मकता से युक्त हैं। इस उपन्यास की कला में भी सादगी है। इसलिए अपनी सादगी और वर्णनात्मकता के नाते यह उपन्यास आरम्भ में पाठक को नहीं पकड़ता – – – लेकिन ज्यों – ज्यों उपन्यास आगे बढ़ता है उसकी पकड़ मजबूत होती है, इसके अनुभव सघन होते हैं। एक के बाद एक परिस्थितियां आती है और अपनी पूरी सादगी के साथ धीरे–धीरे सामाजिक

---

[34] धर्म युग, 8 फरवरी 1976 पृ., 56
[35] वही, 56

जीवन की विसंगतियों, समस्यायों और संबंधो की जटिलताओं तथा अनुभव की सघनता की सृष्टि करती चलती है। "[36] जाहिर है यह उपन्यास के लिए आवश्यक और उसमें अंतर्निहित शिल्प के चलते संभव हुआ।

इस उपन्यास की भाषा सहज और सरल है। अपने कथ्य और परिवेश के अनुरुप ही जीवन संदर्भो से जुड़ी है। उपन्यास की भाषा में दो – एक प्रसंगों को छोड़कर कहीं भी काव्यात्मकता, बिम्बात्मकता और प्रतीकात्मकता के दर्शन नहीं होते। भाषा में सांकेतिकता के स्थान पर स्पष्ट कथन ही अधिक लक्षित है।। यह संघर्षकामी चेतना से जुड़ा सामाजिक उपन्यास हैं इसलिए उसकी भाषा का सहज प्रवाह बिम्बो, प्रतीकों या संकेतों से बाधित नहीं हैं। पर्वतीय अंचल की पृष्ठभूमि के कारण आंचलिकता का प्रभाव स्पष्टः दिखाई देता है। निष्कर्षतः उपन्यास का कथ्य सार्थक है और यह पाठकों को संवेदित और आंदोलित करता है तो इसका श्रेय इसकी भाषा के ही जाता है।

3. <u>दलित चेतना का समाजशास्त्रीय अध्ययनः नाच्यौ बहुत गोपाल</u>

कितने आश्चर्य की बात है कि समाज का जो तबका समाज की सफाई रखने का काम करता है, मानव बस्तियों को रहने लायक बनाता है, गंदगी और बीमारियों से दूर रखता है, समाज के उसी वर्ग को अपने से अलग कर दिया! इससे बड़ी बिडम्बना क्या हो सकती है ? इस वर्ग को अस्पृश्यता का अभिशाप तो झेलना ही पड़ा, कदम कदम पर समाज के अत्याचारों का भी सामना करना पड़ा। दुर्भाग्य से आज भी सिर पर मैला ढोने की कुप्रथा बनी हुई है। अर्थात मुक्ति के प्रयास असफल होते रहे। ओमप्रकाश वाल्मीकि के शब्दों में " आजादी के पाँच दशक पूरा होने और आधुनिकता के तमाम आयातित अथवा मौलिक रुपों को भीतर तक आत्मसात कर चुकने के बावजूद आज भी हम कहीं न कहीं सवर्ण व अवर्ण के दायरे में बंटे हुए हैं। सिद्धान्त और किताबी बहसों के बाहर जीवन में हमें आज भी अनेक उदाहरण मिल जाएंगे। जिनसे हमारी जाति और वर्णगत असहिष्णुता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।"[37] दलित जातियों के दुख दर्द का कोई ओर – छोर नहीं हैं। अगर यह कहा जाए कि भारतीय समाज जाति व्यवस्था में ही बिलबिला रहा है और इस मानसिक गुलामी का कोई सानी नहीं है, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

---

[36] धर्मयुग, 8 फरवरी 1976

[37] ओमप्रकाश बाल्मीकि – जूठन, पृ. 159

दलित समाज एक पूरा वर्ग है। उसमें अनेक उपजातियां तथा उपवर्ग हैं और उनमें आपस में भी ऊँच – नीच का भेदभाव है। मेहतर और चाण्डाल कहे जाने वाला ऐसा ही उपवर्ग है। जिन्हे दलितों में भी हेय दृष्टि से देखा जाता है। एक मलमूत्र उठाता है तो दूसरा श्मशानघाट पर मुर्दे जलाता है। चूकि भंगी की आजीविका बस्तियों से जुड़ी है, इसलिए नित्य के सामाजिक अपमान का दंश भी उसे ही अधिक झेलना पड़ता है। उसकी अपनी दूनियां होती है – सीमित और अपमान जनक। 1979 में प्रकाशित अमृतलाल नागर का उपन्यास 'नाच्यौ बहुत गोपाल' इसी सीमित और अपमान में जनक दुनिया का दस्तावेज है। इसका उददेश्य "भारतीय समाज में सामंती दमन के निकृष्टतम रुपों से साक्षात्कार कराना है और उनके प्रति हमारे मन में नफरत और विरोध का तीखा बोध पैदा करना है।[38] नागर जी की विशेषता है कि जब समाज पर कलम चलाने बैठते है तो उसके सारे अन्तर्विरोध और पाखण्ड को छीलते चलते हैं।

इस उपन्यास में उपन्यासकार का उद्देश्य जहाँ एक ओर मेहतर समाज का समग्र चित्र प्रस्तुत करना है वहां निर्गुनिया के चरित्र के माध्यम से काम एवं प्रेम में द्वन्द्व प्रस्तुत करते हुए काम के उदात्तीकरण का चित्र भी प्रस्तुत करना है। निर्गुनियां के चरित्र के माध्यम से नारी तथा मेहतर जाति की समस्याओं को एक साथ उठाया है। शैशव काल के निर्णयात्मक वर्षो को अपने नाना – नानी के ब्राह्मणत्व संस्कार वाले परिवेश में व्यतीत करने के पश्चात वयः संधि में अपने पिता के साथ ऐसे परिवेश में पदार्पण करती है जहां काम संबंधी मूल्यों की पूर्ण अराजकता एवं मूल्यहीनता का बोलबाला है। स्वामिन नए–नए प्रेमियों को फंसाने का निर्गुनिया को माध्यम मानती है। एक ऐसी स्थिति आती है जब उसे निर्गुनिया अपने काम संबंधों में बाधक प्रतीत होती है। उस समय उसका विवाह अपने पुराने बूढ़े प्रेमी मसुरियादीन से करा देती है जो उसके पिता से भी उम्र में सात साल बड़े हैं।

यहीं से निर्गुनिया के जीवन की त्रासदी प्रारम्भ होती है। निर्गुण का कामदग्ध मन जब मसुरियादीन की निष्क्रीय काम चेष्टाओं से तृप्त नहीं होता तब वह एक मेहतर युवक मोहना के साथ भाग जाती है। इन्ही वासनामयी परिस्थितियों के वशीभूत हो वह ब्राह्मण से मेहतरानी बनती है। वह एक दम से मेहतरानी नहीं वह हार कर टूट जाने के बाद बनी। यह कथा दिलचस्प है। इसलिए यहां यथार्थता नहीं बनावटीपन नजर आता है। निर्गुनिया अपनी आप बीती सुनाती हुई

---

[38] विजेन्द्र नारामण सिंह – आलोचना (त्रैमासिक), जून – जुलाई अंक 1983, पृ. 32

कहती है–" उस दिन सबेरे उठी वह हरामजादी और जब सब मरद चले गए तो कुण्डा बंद किया। आप सामने ही निर्लज्जता से मोरी पर हगने बैठे गई हरामजादी। फिर झाड़ू पंजे की ओर इशारा करके मुझसे कहा–इसे कमा, टोकरे में डाल"।[39] इसी प्रसंग में मोहना कहता है।–"सुनो निर्गुन, हंस के करो या रोके, करना तो तुम्हें यही काम पड़ेगा।"[40] इस तरह निर्गुन मोहन निर्गुनिया बन जाती है और उन्ही के बीच रहकर भंगी समाज को सुधारने का कार्य करती है। यही उपन्यास का संक्षिप्त कथा सार है।

उपन्यास के आरम्भ में ही लेखक ने नगरपालिका द्वारा बनाई 'द' आकार की बस्ती से हमारा परिचय कराया है। 'द' का अर्थ है– दमन। मानों प्रकृति ने इस बस्ती के कपाल पर ही दमन शब्द लिख दिया है। मानों उनकी यह नियति है। उपन्यास में मेहतर जाति की दयनीय, दलित एवं दीन–हीन स्थिति का करुण व मार्मिक चित्रण हुआ है। मेहतर से समाज के सभी वर्ग भरपूर सेवा लेना अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझते है। मानों उनका जन्म सेवा और गुलामी के लिए हुआ है। निर्गुनिया कहती है–"भगवान ने हमको सभी की ताबेदारी करने को बनाया है।"[41] इसी प्रकार मजीद का यह कथन कि–" हम मेहतर लोग तो चौरासी लाख योनियों में नाचने के लिए पैदा हुए हैं।"[42] नित्य प्रति उनका एक ही काम होता है– सफाई। अगर समय पर न पहुँचे तो जान की पड़ गई। स्त्रियों की स्थिति और भी दयनीय होती है। लेखक ने भंगी स्त्री की स्थिति को चित्रित करते हुए लिखा 'भंगी टोले से एक स्त्री की आवाज आ रही थी – "मै हरगिज नही जाऊँगी, इस कमीने के साथ, कोई धौंस है? वाह। दूसरा पुरुष गरजा– जाना तो तुझे पड़ेगा ही हरामजादी, चाहे हंस के जा, चाहे रो के जा। मेरे पास पन्द्रह सौ रुपए नहीं हैं कि जमीदार, दरोगा और चीफ साहब को चटा कर अपने लिए काम पा सकूँ।

तो काम पाने के लिए अपनी औरत की इज्जत लुटाएगा हरामजादे, तुझे शर्म नहीं आती?

मजलूम और गरजमंद आदमी सब कुछ कर सकता है, और तेरी इज्जत है ही कहाँ? कुतिया, रण्डी और गरीब की जोरु की भला क्या इज्जत होती है?[43]

---

[39] नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ. 97
[40] नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ. 98
[41] वही, पृ. 111
[42] वही, पृ. 27
[43] वही, पृ. 27

यह चित्र है मेहतर जाति का, आजीविका के लिए कीमत चुकाने का, जो बहुत बड़ी है। काम पाने के लिए रिश्वत के साथ–साथ सतीत्व की भेंट भी सम्मिलित है। इसे भी ये लोग भाग्य और नियति मान कर स्वीकार कर लेते हैं। विद्रोह या संघर्ष की सोच भी नहीं सकते– सदियों के शोषण ने धार को कुंद कर दिया है। फिर भी विद्रोह उनके मन में जागता है और वे इस सड़ी–गली व्यवस्था को खत्म भी करना चाहते हैं, परन्तु आगे बढ़ने की राह में वे देर तक टिक नहीं पाते। क्योंकि सफाई के अलावा उनकी आजिविका का कोई अन्य आधार नहीं है। उन्हें इस बात का दुख रहता है कि बड़े लोग गंदगी करें, सभी करते हैं, लेकिन हम ऐसे कमनसीब, नालायक पैदा हुए हैं कि हमे अपनी गंदगी भी साफ करनी पड़ती है, दूसरों की भी। भला यह कहां का न्याय है?"[44]

जाति–भेद और छुआ–छूत का दुराग्रह हिन्दू समाज में घुन की तरह इस प्रकार लगा हुआ है कि पढ़–लिख जाने पर भी इनकी कोई गति नहीं होती। उनको इस बात का भी घोर मानसिक कष्ट है कि हरिजनों में भी मेहतर निकृष्ट कोटि का है। आर्थिक स्थिति के अभाव में और जातीय दंश के कारण वे पढ़ नहीं पाते हैं तथा हताश होकर अपने वंशगत पेशे में लौट जाते हैं। लेखक के शब्दों में "जो लोग ऊँची से ऊँची दीवारों को भी फलांग कर अपनी महत्वाकांक्षा की मंजिलो पर जैसे–तैसे आगे बढ़ते हैं, उन्हें अंत में जाकर प्रायः चूहा का चूहा ही बन जाना पड़ता है। यह गति क्या देव निर्मित है? नहीं, यह सामाजिक कुव्यवस्था की देन है।"[45] मेहतर समाज से संबंधित नारकीय जीवन का यथावत वर्णन तो है लेकिन यह द्वितीयक है।

नागर जी ने इस उपन्यास में सतीत्व, काम एवं प्रेम का संघर्ष दिखाया है। वह इनकी परिभाषा तलाश करती है। उसमें भी 'एक सती और काम पीड़ित नारी थी'। वह सती बनना चाहती है लेकिन काम की अगन में नहीं बन पाती है। मोहन से दूर रहने पर वह एण्डर्सन के प्रेम जाल में बँधने लगती है, किन्तु सतीत्व एवं काम के द्वन्द्व में वह इस संबंध को समाप्त कर लेती है क्योंकि मोहना उसके दिलो दिमाग पर छाया हुआ है। इसलिए कहती है "मेरा मन अनंत कहां सुख पावै, जैसे उड़ि जहाज को पंछी फिर जहाज पर आवै"[46] निर्गुनिया जिस काम भावना अथवा

---

[44] नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ. 93–94
[45] वही, पृ. 321
[46] वही, पृ. 326

देह–सुख की कामना से अपने प्रारम्भिक जीवन में तबाह होती है, उसी कामना को चूल्हे की लकड़ियों की तरह समेट कर उसकी आंच से ही वह अपने व्यक्तित्व को पकाती है।

देखा जाय तो निर्गुनिया के माध्यम से नागर जी का उद्देश्य एक दमित व उपेक्षित नारी को सामने लाने का रहा है, जिसका अहं ब्राहमण संस्कारी होने के कारण बार–बार स्वयं को अछूत मानने का विरोध करता है। काम की मदन दीवानी निर्गुनिया अपने जीवने के अड़तालीस वर्ष पूर्व के तुलसीदास की रामायण के संस्कार को भूल नहीं पाती है। जहां भी उसे मौका मिलता वह अपने संस्कार को रोक नहीं पाती है। इसीलिए हनुमान की मूर्ति लेखक के घर में देखकर संस्कृत के श्लोक पढ़ने लगती है। वह ऐसी नारी है जो समाज के हर तबके से अपमानित होकर अनके स्तरों पर पीड़ित होती है। तारीफ तो यह है कि नागर जी जगह–जगह उसके सतीत्व की दुहाई देना नहीं भूलते।

लेखक निर्गुनिया की काम वृत्ति के सहारे मेहतर समाज के भीतर बैठता है। इस काम वृत्ति पर इतनी तीव्रता से बलाव्रात किया गया है कि निर्गुनिया की काम वृत्ति का उद्घाटन ही पाठक को सहसा घेरने लगता है। पाठक चटखारे लेकर पढ़ने लगता है। इस रसीले पन से अभिभूत पाठक सस्ते मनोरंजन के रुप में ही इस उपन्यास का लेखकीय आशय ग्रहण करता है। उन्मुक्त काम की विस्फोटक स्थिति को इतना अतिरंजित किया गया है कि उपन्यास के प्रति बनी पाठक की पूर्वधारणा खंडित हुए बिना नहीं रहती।

काम के बाद इस उपन्यास की दूसरी चिंता धर्म है। इस वर्ग के भीतर बैठकर यदि जांच की जाए तो मिलेगा कि जहालत और गरीबी इन्हे विरासत में मिली है। प्रश्न है कि मेहतरों का धर्म क्या है? क्योंकि हिन्दू और मूसलमान दोनों ही उन्हे अछूत व हेय मानते हैं। मेहतर समाज में हिन्दू और इस्लामिक दोनों रीति–रिवाजों का प्रचलन है। "बस्ती में यह आपसी बहसें तो चल रही थी कि हम लोग हिन्दू है या मसुलमान? हम लोग नवरात्रों में व्रत भी करते हैं और रमजान के रोज़े भी। हम जन्माष्टमी और होली भी मनाते है, कजरी, तीज भी मानते हैं। जितने भी हिन्दुओं के त्यौहार हैं वे सब मनाते हैं और नमाज भी पढ़ते हैं, तो हमारा कौन सा धर्म हुआ।[47] इस प्रकार की खिचड़ी के मूल में मुस्लिम आक्रमण और जबरदस्ती धर्म परिवर्तन का गौरव पूर्ण बखान किया

---

[47] नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ. 242

जाता है। सही स्थिति यह है कि 'सवर्णो के आंतक के फलस्वरुप मेहतर जाति का अपना कोई दीन–धर्म नहीं होता। उसका दीन धर्म वही होता है जो उसके मालिक का होता है। हमारे यहां तो दोनों ही रिवाज चलते हैं।"[48]

राजनीति जीवन का अनिवार्य अंग होते हुए भी उपन्यास का अंग नही बन पाई है। राजनीति जैसे व्यापक जीवन पक्ष का उपयोग लेखकीय आशय को सिद्ध करने के लिए कम किन्तु अपनी कृति को समसामायिक सिद्ध करने के लिए अधिक किया गया है। उपन्यास में स्वतंत्रता प्राप्ति और उससे दस वर्ष पहले तक के समय को निर्धारित किया गया जान पड़ता है। इस बीच हिन्दू–मुसलमानों के सांप्रदायिक दंगों और निर्गुनिया की जेल यात्रा को लेखक उपन्यास में कुछ ऐसे ढंग से प्रस्तावित करता है कि ये घटनाएं नोटिस सी लगती है निर्गुनिया को लेखक अछूतोद्धार के प्रतिनिधि के रुप में चित्रित तो करता है लेकिन संघर्ष का अभाव गति नही दे सका। अधिकांशतः राजनीतिक सूचनाओं की केन्द्र निर्गुनिया ही हैं।

इस उपन्यास में मेहतर समाज के संकट के प्रति लेखक की गहरी चिंता है, जिसे काम, धर्म, पेट आदि के संदर्भ में देखा परखा गया है। लेखक ने जिन समस्याओं को केन्दु में रखकर मेहतर समाज के दस्तावेज को तैयार किया है, उस तरह की समस्याओं का शिकार कोई भी हो सकता है। ऐसी स्थिति में लेखक उपन्यास में लेखकीय आशय का स्पष्टीकरण पात्रों से छीनकर स्वयं अपने वक्तव्यों में करने लगता है, और यह वक्तव्य इतने कटे हुए हैं कि एकाएक उपन्यास का लेखकीय आशय बदलने लगता है। भंगी वर्ग के इस लेखे–जोखे में केवल एक ही प्रवृत्ति उभर कर आयी है वह यह कि विकृत–काम आदमी को कुछ से कुछ बना डालता है। लेखक स्वयं भी ब्राहमण संस्कारों से मंडित है, इसलिए निर्गुनिया की ब्राह्मण से मेहतर बनने की यात्रा के द्वारा उच्च वर्ग एवं समाज के प्रति व्यंग करके निम्न वर्ग के प्रति सहानुभूति अर्जित करना चाहता है। तब काम और धर्म का विकृत रुप झूठा पड़ जाता है।

रचानात्मक स्तर पर इस उपन्यास के बहुत से अध्याय और अंश ऐसे मिल जाएंगें जिन्हें काटकर फेंक देने पर भी उसके प्रभाव व प्रवाह में कोई अंतर नहीं आएगा। इसलिए पढ़ते–पढ़ते लगेगा कि यह उपन्यास अप्रमाणिक हैं। लेखक ने उपन्यास में जिन बदलती भूमिकाओं को धारण

---

[48] नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ. 111

किया है वे उपन्यास के रचनातंत्र को कमजोर बनाती है। पत्रकार, श्रोता, उपदेशक व निर्देशक के रूप में वह लेखकीय हस्तक्षेप से कथा को आगे बढ़ाने का प्रयास करता है। जहाँ पर लेखक पात्रों को स्वतंत्र रुप से चलने और कार्य कलाप करने की आजदी देता है। वहाँ पर कृति प्रमाणिक व विश्वसनीय हो जाती है।

नागर जी ने डायरी, इन्टरव्यू व प्रश्नोत्तर आदि शैलियों का उपयोग कर उपन्यास के शिल्य को जहाँ समृद्ध किया है, वहां रचनात्मक अस्थिरता ने उसके विधान को तोड़ा भी है। भिन्न–भिन्न विधानों को धारण करने पर भी इसका स्वरुप आत्मकथात्मक ही है, यह आत्मकथात्मक रुप जहाँ, पाँचवे, छठें, सातवें और आठवें अध्याय में बल पाता है, वहां लेखकीय हस्तक्षेप से बाद में टूटता भी है।

नागर जी प्रेमचन्द की परम्परा के लेखक है, इसलिए उनकी भाषा मुहावरों व लोकोक्तियों से अधिक संपन्न है। प्रेमचन्द का आदर्श उन्हें गाली–गलौज से रोकता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि लेखक सटीक भाषा के प्रयोग में सिद्धहस्त है किन्तु उपन्यास में स्थान–स्थान पर जोड़ होने के कारण भाषा की एकरुपता स्थिर नहीं हो पायी, जो उपन्यास के प्रभाव व प्रवाह को भी खण्डित करती है। लेखक इस बात को प्रस्तावित करता है कि इस वर्ग की दशा और दिशा का दायित्व समाज के और वर्गो पर भी है, इस तरह के व्यंग को रुपायित करने के लिए उन सभी वर्गों द्वारा व्यवहत भाषा को स्थान दिया गया है। उपन्यास में एक ओर जहाँ गाली–गलौज है वहीं दूसरी ओर कबीर, तुलसी, सूर की अमरवाणी से यह उपन्यास सजीव हो गया है। लेकिन निर्गुनिया के अतिरिक्त अन्य किसी पात्र को इस अमर वाणी के बोलने का सौभाग्य नहीं है। इसलिए भाषा की अधिकांश शक्ति एक ही पात्र में केन्द्रित हो गई है। वैसे भूख से पीड़ित मानव से तृप्त भाषा की मांग करना अनुचित है। मुहावरों और मानक भाषा का उपयोग लेखकीय टिप्पणियों के रुप में अधिक किया गया है।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि निर्गुनिया को केन्द्र में रखकर मेहतर समाज के उत्थान–पतन की कहानी को लेखक ने विभिन्न आयामों में प्रस्तुत किया है। लेखक का यह प्रयत्न सार्थक अवश्य हो जाता, यदि निर्गुन की दुर्दशा के केन्द्र में केवल काम का भयानक विस्फोट न होता। निर्गुन के चारों ओर के परिवेश का चित्रण लेखक इस वर्ग के सामाजिक सर्वेक्षण के उद्देश्य

से करता प्रतीत होता है। प्रयास बहुत अच्छा था, अगर सार्थक बन पाता, किन्तु इस उपन्यास को पढ़ते–पढ़ते पाठक सहृदय की भूमिका छोड़कर सस्ते मनोरंजन में उलझने लगता है।

मेहतर वर्ग के आरम्भ व इसके इतिहास का आख्यान अनेक बार इस उपन्यास में दुहराया गया है। घटना क्रम में निश्चय ही तीव्रता है, लेकिन इन घटनाओं का लगाव किसी स्थान विशेष से नहीं है। उपन्यास के केन्द्र से लेखक का स्थान बोध गायब है। इस उपन्यास को भारत के वहत्तर मेहतर समाज के दस्तावेज के रुप में प्रस्तुत करने की लेखक की बलवती इच्छा पूरी नहीं हो पाती। उपन्यास शहरी मेहतर वर्ग के साथ–साथ ग्रामीण मेहतर समाज का प्रतिनिधित्व नहीं करता। स्थान के लुप्त होने के बावजूद गहरी खोजबीन के साथ मेहतर समाज के रीति–रिवाज, धर्म और उसके स्वभाव को लेखक ने रुपायित किया है।

4. <u>आरक्षण का सवालः परिशिष्ट</u>

भारतीय समाज के कोढ़ (जातिवाद) और इससे स्वतंत्रता के बाद भी शोषित–पीड़ित दलित वर्ग के सामाजिक और खासकर शिक्षण संस्थाओं में हो रहे शोषण, उत्पीड़न की दाहक प्रस्तुति गिरिराज किशोर के 'परिशिष्ट' (1984)' में है। 'परिशिष्ट' का विषय स्वतंत्रता के तीन दशक बीत जाने के बाद शिक्षण संस्थाओं में हो रहे दलित छात्रों के शोषण पर केंद्रित है। आजादी मात्र राजनीतिक रुप में नहीं थी, बल्कि विचारों एवं 'नव क्रांति का सपना' भी उससे जुड़ा हुआ था। इसके साथ ही देश का वैचारिक पुनर्जन्म हुआ। दलित वर्ग में महत्वाकांक्षाओं के नए क्षितिज उभरे। परन्तु उन्हें क्या पता या कि ये कल्पनाएं, महत्वाकांक्षाएं, ये सपने साकार होने से पहले ही मिट जाएंगें। सिद्धान्त और व्यवहार का फर्क साफ–साफ दिखने लगा। आरक्षण के द्वारा दलित वर्ग को आगे बढ़ने का रास्ता मिला। प्रारम्भ में सीमित स्तर पर या, परन्तु बाद में जब इसे उच्च शिक्षण संस्थाओं में लागू किया गया तो दलित वर्ग को आशा की एक नई किरण दिखी कि उनके बच्चे भी डाक्टर–इंजीनियर बन सकेंगे। स्वतंत्रता के बाद दलितों की प्रथम पीढ़ी कुछ भी बन सकी, लेकिन उनके मन में दूसरी पीढ़ी के प्रति आशाएं जाग उठी।

आरक्षण के इतिहास में जाने की जरुरत नहीं है। इसके संबंध में यही कर सकते हैं कि ' इसके निर्धारण की सबसे बेहतर कसौटी जाति के सिवा कुछ नही हो सकती'।[49] दलित जातियों

---

[49] ईश्वरी प्रसाद–शुद्रराजनीति का भविष्य, पृ. 79

को सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से बराबरी पर लाने का इससे अच्छा तरीका नहीं हो सकता, क्योंकि यह समाज लोकतांत्रिक रास्ते से चलकर सामाजिक समता के लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है।

'परिशिष्ट' बावनराम की 'क्लिफटॉप' की आकांक्षा तथा अनको ध्वस्त करती सदियों पुरानी मानसिकता की मार्मिक प्रस्तुति है। कथा का प्रारम्भ आई. आई. टी. में अनुकूल के प्रवेश से होता है। इसके लिए बावनराम अपने क्षेत्र के एम. पी. चौधरी का सहारा लेते हैं। चौधरी के यहां बावनराम और अनुकूल का जातिवादी मानसिकता और धृणा से जो साक्षात्कार होता है उससे ही आगामी कथा का संकेत मिल जाता है। अनुकूल को लगता है कि अगर प्रवेश मिल भी गया तो, क्या वहां यह सब नहीं होगा। वह हिम्मत हार जाता है लेकिन बावनराम नहीं। इसी दौरान चौधरी से लेकर कृष्णनन साहब दलित छात्रों के लिए आई. आई. टी. को कब्रिस्तान बताते हैं। अनुकूल का प्रवेश हो तो जाता है परन्तु उसे स्टेशन पर जब पूछा जाता है कि आप अनुसूचित जाति के हैं तभी उसे आने वाले समय का अहसास हो जाता है। उसे तथा अन्य दलित छात्रों को कदम--कदम पर ज़लील किया जाता है। दूसरी तरफ राम उजागर जो प्रवेश परीक्षा द्वारा आया है। इस कारण थोड़ा सम्मान पाता है। वह सामान्य छात्रों के लिए चुनौती के रुप में और दलित छात्रों का सहारा। दलित छात्र मोहन की आत्महत्या उसे पागल कर देती है। उसे संस्थान छोड़ना पड़ता है। उसे संस्थान में वापस लाना तथा दलितों के प्रति हो रहे अत्याचार के खिलाफ अनुकूल निलम्मा और प्रो. मलकानी के सहयोग से संघर्ष करता है। संघर्ष की इसी महागाथा की उपन्यास में मार्मिक प्रस्तुति हुई है।

उपन्यास की मूलकथा का प्रारम्भ अनुकूल के आई. आई. टी. में प्रवेश के साथ ही होता है। इससे पूर्व की कथा पृष्ठभूमि के रुप में चित्रित है। इससे पाठक को मूल कथा की संभावना का आभास मिल जाता है। क्योंकि जातिवाद का कोढ़ शहर हो या गाँव हर जगह मौजूद है। बावनराम के मन में एक उमंग है जो चाहती है कि उनका बेटा उस मकाम पर पहुँचे जहां जाति की संकीर्णता उसे छू भी न सके। वह उसे गहरे कीचड़ भरे दलदल से निकालना चाहते हैं। साधनों के अभाव में वे असफल रहे। प्रथम टकराहट अपने समाज से ही होती है। गाँव के लोगों का मानना है कि लड़के को क्रिस्तान बना रहा है। दृढ़ संकल्प बावनराम अपने बेटे अनुकूल को आई. आई. टी. में एस. सी/एस. टी. कोटे के तहत प्रवेश दिलाने की गुजारिश करते हुए चौधरी

से कहते हैं–"अगर यही लड़के आगे बढ़ने की नहीं सोचेंगे तो हम लोगों के सामने से तो 'आगे' शब्द ही लोप हो जायेगा।[50] चौधरी साहब के घर इन लोगों पर जातिवादी व्यवहार किया जाता है। बाथरूम में इनके पैरों के निशान से बचकर लोग चलते हैं। अनुकूल हिम्मत हार जाता हैं परन्तु उनका मानना है कि " मंजिल पर पहुँचना है तो रास्ते की तकलीफों को नजर अंदाज करना पड़ता है"।[51] बावनराम के सपने को चूर करने के लिए चौधरी से लेकर कृष्णनन साहब तक सभी प्रयास करते हैं। कृष्णनन साहब ने तो यहां तक कहा कि" –आई. आई. टी. वीक बच्चे के लिए.. क्या कहता है उसको.... आई. मीन ग्रेवयार्ड.. यानी कब्रिस्तान है। हमारा राय नहीं... बच्चा आई. आई. टी. को मत भेंजों'।[52]

सदियों से दलित वर्ग के लिए शिक्षा और रोजगार के रास्ते बंद रहे हैं। जिस पवित्र भावना से आरक्षण का प्रावधान किया गया उसका कहीं भी ईमानदारी से पालन न हो सका। लेकिन इसके विरोध की ज्वाला पूरे देश में भड़क उठी। इस मानसिकता की यथार्थ प्रस्तुति 'परिशिष्ट' करता है 'विश्वनाथ प्रसाद त्रिपाठी के शब्दों में "यह एक प्रमाणिक दस्तावेज जैसी रचना है। इसमें लेखक ने एक अंतर्राष्ट्रीय ख्याति की ऐसी संस्था का चुनाव किया है, जहां लब्ध प्रतिष्ठित किन्तु लोलुप प्रोफेसर हैं, जहां धनाढ्य पूँजीपरस्त शासक वर्ग के छात्र पढ़ते हैं, और नीच जाति के गरीब छात्रों के साथ जमीरदराना वर्ताव करते हैं। उनसे उबरने के प्रयत्न में त्रासद, संघर्षशील, उदार एवं हिंसक स्थितियों का यथावसर, यथानुकूल चित्रण भी है।"[53]

आई. आई. टी. में प्रवेश परीक्षा के बिना दाखिले की व्यवस्था तो कर दी गई लेकिन इससे उत्पन्न जातिवादी धृणा से दलित छात्रों की सुरक्षा को नजरअंदाज कर दिया गया। धृणा दलित वर्ग के जागृत होने की प्रतिक्रिया स्वरुप था। अनुकूल के इंजीनियरिंग में प्रवेश के लिए दिल्ली आने पर स्टेशन पर उससे पूछा गया सवाल–'आप एस. सी/एस. टी. कोटे से आए हैं?' से होता है। उसे लगता है यह सवाल रोज पूछा जायेगा। वास्तविकता से भागना गलत होगा। उसे वहीं वी. वी. आई. पी. का खिताब मिल जाता है_अर्थात_अत्याधिक–महत्वपूर्ण–व्यक्ति-। एक विद्यार्थी, विद्यार्थी न होकर वी. वी. आई. पी. हो जाता है। उसे हीन दृष्टि से देखा जाता है। वहां के

---

[50] परिशिष्ट– पृ. 62
[51] वही, पृ. 70
[52] वहीं, पृ. 81
[53] विश्वनाथ प्रसाद त्रिपाठी (सं.) – दस्तावेज, पृ. 51

अध्यापक भी उनसे वैसा व्यवहार नहीं करते जैसा कि वह सवर्ण छात्रों के साथ करते हैं। इन संस्थाओं में शिक्षण कार्य अंग्रेजी में होता है। चूंकि दलित छात्र ऐसी पृष्ठिभूमि से आते हैं जिसमें उनकी अंग्रेजी अच्छी नहीं होती, इसके कारण भी उनकों अपमान सहना पड़ता है। एक दलित छात्र जब प्रोफेसर राव से हिन्दी में प्रश्न पूछ देता है तो वे कहते हैं "दुनिया की इस दौड़ में तुम्हारी हिन्दी–पिंदी से कुछ भी नहीं होने वाला है।"[54] इस संस्थान में सबके उपर अंग्रेजीयत हाबी है। एक लड़का बोलता है "हिन्दी (दलित) लाकर इस नेशनल इन्स्टीयूट को बरबाद कर देना है।"[55] अनुकूल की अंग्रेजी अच्छी है। उसे प्रोत्साहन देने के बजाय धमकाया जाता है। खन्ना कहता है " मै जनता हूँ और एस. सी/एस. टी लौड़ों के मुकाबले तुम्हारी अंग्रेजी ठीक है। लेकिन यह काम तुम लोगों का नही है। तुम लोग देश भक्त हो.... देश भक्तों के लिए अपनी मातृभाषा ही अति उत्तम वस्तु है।"[56]

अध्यापक शिक्षण संस्थान के शासन तंत्र का सबसे जरुरी सदस्य होता है। लेकिन लालच और बेईमानी ने इनको खरीद लिया है। इससे सवर्ण छात्रों का मनोबल ऊँचा होता है। क्योंकि उनको दलित छात्रों के प्रति किया गया व्यवहार उचित ही लगता है। प्रशासन एक बुलडोजर होता है। लेकिन इसको चलाने वाला हाथ पुँजीपतियों और धनाठ्य छात्रों के हाथ में होता है–"खन्ना के सामने डायरेक्टर भी पिद्दी बोल जाती है'। सारा का सारा तंत्र खराब हो चुका है, जिसको न्याय मिलना चाहिए, उसे नहीं मिलता है। खन्ना संस्था की उपज हैं तभी तो डीन कहते हैं "खन्ना एस. सी. स्टूडेन्ट्स की न्यूसेन्स खत्म करने के लिए पैदा हुआ है।"[57] डीन खन्ना और अनुकूल के संधर्ष में हस्तक्षेप नहीं करना चाहते। उनके अनुसार "इन्हे आपस में ही निबट लेने दो.... अगर ये लोग एक दूसरे में व्यस्त रहेंगे तो हम लोगों का जीवन शांति से गुजरेगा।"[58] डीन ऊँची जाति के छात्रों को नाराज करके खतरा मोल नही लेना चाहता। वह हर कदम पर उनके साथ है चाहे नैतिक हो या अनैतिक। यहां तक कि दलित छात्रों के पैरेंट्स तक को नहीं बख्शा जाता है। अनुकूल के पिता को गुण्डा की संज्ञा दी जाती है। "मैने सुना है कि वे अपने साथ गुण्डों को लाए हैं....

---

[54] परिशिष्ट, पृ. 176
[55] वही, पृ. 175
[56] वही, पृ. 179
[57] वही, पृ. 180
[58] परिशिष्ट, पृ. 189

हास्टिल–हास्टिल घुमते फिर रहे थे। लड़को को पहचनवा रहे थे।"[59] डीन यह भी भूल जाते है कि पहले वे एक टीचर हैं।

दुष्चक्र का यह परिणाम है कि अध्यापक भी अपना आदर्श खो चुके हैं। ऐसे में प्रो. मलकानी ही मानवीय आदर्श के विवेकशील प्रतिनिधि है। उनकी सहानुभूति दलित छात्रों के प्रति है। इसलिए उन पर जातिय घृणा का धिनौना आरोप लगाया करता है–"जब आक्षेप का आधार तथ्य नहीं होते तो घृणा होती है। घृणा और विद्वेष का कोई प्रतिकार नहीं होता।...झूठ को सच्चाई की तरह प्रस्तुत करना हमारी सेवा हो गया है।.... जो हमारे हित में होता, उसे हम सच्चाई मानते हैं और जो विरोधी होता है वह झूठ..... हम एक छोटे स्तर पर वही कर रहे हैं, जो बड़े और शक्तिशाली राष्ट्र अविकसित देशों के साथ करते हैं।"[60]

ऐसे माहौल में दलित छात्र (मोहन) आत्महत्या करने पर मजबूर हो जाते हैं। रामउजागर जो संस्था में दलित छात्रों के लिए लाइट था, इस आत्महत्या से अपना मानसिक संतुलन खो बैठा है। संस्था में दलित छात्रों का एक मात्र सहारा था, वह खुद अब डरने लगता है। उसे लगने लगा कि मोहन की तरह ये लोग हम लोगों को भी मार डालेगें। वह अनुकूल से कहता है"। भाग जाओ जल्दी भाग जाओ.... ये तुम्हें भी बन्द कर मार डालेंगे।"[61] उसे लगता है कि अब मौत ही एक मात्र रास्ता रह गया है। अनुकूल, निलम्मा तथा प्रो. मलकानी द्वारा किए गए प्रयासों के बावजूद जब वह संस्था में अपना पहले वाला स्थान नही बना पाया, तब बुरी तरह हताश हो जाता है, और अतंतः वह आत्महतया के लिए विवश हो जाता है–"मेरा जाना स्वेच्छा से है। गवेषणात्मक है। हॉलाकि उसका प्रतिफल दूसरों में बांट जाना संभव नहीं होगा।"[62] उसकी आत्महत्या सचमुच एक अनुष्ठान थी। वह मरता नही, मर कर मारने वालों को मनुष्यता की सीख दे जाता है।

अनुसूचित जाति के विद्याार्थियों को विद्यार्थी के रुप में सहज स्थिति नहीं मिल पाती है। उन्हे संस्था में भी सामाजिक खोखलेपन का शिकार होना पड़ता है। छात्रावास में लड़के एक साथ रहते हैं, परन्तु दलित छात्र साथ रहकर भी अलग है। उनके साथ अछूत का व्यवहार किया जाता है। यहां तक कि 'हाथ मिलाने के बाद हाथ उलट–पुलट कर देखा जाता है। अनुकूल को बदबू

---

[59] परिशिष्ट, पृ. 180
[60] वही, पृ. 269
[61] वही, पृ. 143
[62] वही, पृ. 287

विशेषज्ञ के रुप में बुलाया जाता है– शायद आप की बुद्धि काम कर जाय। लाश उतारने के लिए भी कोई तैयार नही होता है। एक विद्यार्थी की संवेदनशून्यता की हद है। कल्लू सिपाही (डोम) लाश उतारने के लिए दो आदमियों की मांग करता है, इस पर दरोगा अपने सहज अंदाज में बोला "हरसाला जिंदगी भर मुर्दे ढ़ोता रहा पुलिस में भर्ती हो गया तो हरामजादे को दो आदमी चाहिए। डोम की औलाद।"[63] रामउजागर लाश उतारने में मदद करता है। उतारते समय थोड़ा लड़खड़ाकर गिर जाने पर कहा जाता है–"दर असल अब आदत नहीं रही। आई. आई. टी. अच्छे–अच्छे की आदत खराब कर देती है।"[64] तो कुछ उसे हैबिट या फैमिली ट्रेनिंग मानते हैं। रामउजागर को लाश उतारने को हेरिडिटी के रुप में देखा जाता है। एक विद्यार्थी का विद्यार्थी के रुप में इससे अधिक अपमान क्या हो सकता है? खन्ना अनुकूल में राम के गुण देखता है, और उससे कहता है–"राम की तरह तुम्हे भी ऐसे कामों में हिस्सा लेना चाहिए.... इससे तुम्हारे प्रति हम लोगों की सहानुभूति बढ़ेगी। हम लोगों की सहानुभूति रखना मतलब रखता है। तुम लोगों मे सेवा प्रवृत्ति अभी बाकी है। उसे जीवित रखो.... अपनी परम्परा को भुला देने वाला आदमी जानवर होता है।"[65]

छात्रावास में दलित छात्रों के विंग को गाँधी विंग नाम दे दिया गया है इन छात्रों में एक तरह का भय बना रहता है, वे दूसरे विंग से गुजरने पर डरते हैं। राम के बाद अनुकूल ही दलित छात्रों का सहारा है। उसे उसकी सीमाओं का ज्ञान कराते हुए कहा जाता है–"तुम अपनी सीमाओं को समझते हो तो ठीक है.... नही समझते हो तो समझो? रियाया की स्थिति से उपर उठने में अभी समय लगेगा।"[66] विद्यार्थी विद्यार्थी न होकर समाज का ठेकेदार हो गया है। अनुकूल द्वारा छात्रवृत्ति के संबंध में मीटिंग करने पर धमकाया जाता है–"क्यों बे सिस्टम के खिलाफ बगावत करना चाहता है।"[67] कुल मिलाकर परिस्थितियों का सैलाब अनुकूल को चारों तरफ से घेर रहा है। शायद एक और रामउजागर और मोहन के कगार पर है। अब हर मौत एक संभावना की मौत है, रोशनी होती दिशा का अंधेरे में खो जाना है।

लेखक ने उपन्यास का नाम 'परिशिष्ट' कथा के अनुकूल और विषय को सार्थकता प्रदान करते हुए रखा। 'परिशिष्ट' के अर्थ से भी दलितों की स्थिति का बोध होता है। लेखक ने स्वयं

---

[63] परिशिष्ट, पृ. 123
[64] वहीं, पृ. 125
[65] वहीं, पृ. 132
[66] वहीं, पृ. 153
[67] वही, पृ. 153

भूमिका में लिखा है–" विकसित होते समाज में अपेक्षाएं और इच्छाएं बेगवती नौकाएं हो जाती हैं। वे सतह पर अबाध बहना चाहती हैं, ऐसे में कुछ नौकाओं के पालों से हवा निकाल दिया जाय तो वे परिशिष्ट मात्र रह जाती है। परिशिष्ट का एक अर्थ यहां है। 'परिशिष्ट' का एक यह भी अर्थ है जो लेखक ने अंत में 'परिशिष्ट' नाम से दो रिपोर्ट जोड़कर इस शब्द को प्रदान किया है। 'परिशिष्ट' का एक अर्थ वह है जो हम इस उपन्यास में पाते है– मुख्य भाग के अतिरिक्त बचे–खुचे व किसी तरह चिपके लोग। जो समाज का हिस्सा है। पर उन्हें हक न देकर, वह सम्मान, ज्ञान, हवा, पानी, भोजन न देकर बस किसी तरह समाज के साथ खींचा जा रहा है। 'परिशिष्ट' का एक अर्थ वह है जो हम शब्दकोश (संज्ञा के रुप) में देखते हैं अर्थात वह भाग जो किसी बात को कहने के लिए – जैसे किसी पुस्तक में अपनी बात को अतिरिक्त विस्तार (जोर) देने के लिए जोड़ दिया जाता है। अर्थात वह भाग जो मुख्य भाग के लिए है, पर मुख्य भाग के बिना उसका कोई अस्तित्व नहीं है मुख्य भाग के लिए है, न कि मुख्य भाग उसके लिए है। जो अतिरिक्त काम है, कार्य अर्थ है, वह 'परिशिष्ट' मुख्य भाग को दे सकता है, पर 'परिशिष्ट' को जीवन रक्त मुख्य भाग से ही मिलता है। 'परिशिष्ट' विशेषण के रुप में भी प्रयुक्त है। जिसका अर्थ है– बचा हुआ, छुटा हुआ। मूलरुप में सारे अर्थ एक ही सकेंत देते हैं। यह उपन्यास पूरे भारत पर सजीव टिप्पणी बन जाता है। क्या अधिकांश लोगों को विद्या से वंचित कर भारत खुद पश्चिम का एक 'परिशिष्ट' बनकर नही रह गया है? यह मात्र वंचना के कारण नहीं, बल्कि शिक्षा, विज्ञान, अर्थव्यवस्था सभी अर्थों में 'परिशिष्ट' है।

उपन्यास अपने उद्देश्य में सफल है। एक विद्यार्थी को विद्यार्थी की सहज स्थिति का न मिलना और इससे उत्पन्न घुटन, निराशा, शोषण, उत्पीड़न और जातिवादी मानसिकता को सामाजिक धरातल पर उठाया गया है। मनुवादी मूल्यों से निर्मित संवेदना विहीन समाज और उससे निर्धारित हमारे जीवन मूल्य दलितों में पनपी आकांक्षा तथा समाज में हैसियत पाने की लालसा को दबा दिया। शिक्षा संस्कृति मानवीय गरिमा के मूलभूत स्तम्भ है। डा. पुरुषोतम अग्रवाल के शब्दों में " परम्परावादियों के अनुसार वर्णाश्रम अपने मूलरुप में सर्वाधिक सुसंगत और समरस व्यवस्था है। छुआछूत की विकृति दूर कर किसी तरह वर्णाश्रम की पुनः स्थापना हो सके तो धरा–धाम पर स्वर्ग आया समझिए। ऐसे लोगों को राम राज्य का अर्थ है ऐसा समाज जहां चारों वर्णों के लोग अपने–अपने आश्रम धर्म का पालन खुशी–खुशी करे। इस पर ध्यान देने की जरुरत

नहीं है कि शूद्र का एक ही धर्म है– सेवा और एक ही आश्रम है– गृहस्थ। न विद्या अध्ययन की इजाजत है न मोक्ष साधना की गुंजाइश"।[68]

'परिशिष्ट' इतना प्रामाणिक लगता है कि उपन्यास की जगह उसे 'रामउजागर/अनुकूल एक जीवनी या महाभियोग कहना अधिक उपयुक्त लगता है। संवाद, घटनाक्रम, मनः स्थिति, स्वप्न– सभी दृष्टियों से गिरिराज किशोर ने प्रामाणिकता प्रस्तुत की है। उपन्यास से यह ज्ञात नहीं होता कि आरक्षण उचित है अनुचित। उपन्यास इस स्थिति का गहरा विश्लेषण तो करता है पर लोकतंत्र में वास्तव में क्या होना चाहिए, इसका कोई संकेत नहीं करता। एक्सरे मौजूद है पर निदान नहीं मिलता। उपन्यास की एक मुख्य कमजोरी यह भी है कि रामउजागर जैसे ऊर्जावान चरित्र का अचानक पागल हो जाना, आश्चर्य चकित करता है। रामउजागर को लेखकीय न्याय नहीं मिल पाता हैं। रामउजागर जिस रुप में पाठक के सामने आता है उसी रुप में दलित चेतना को आगे ले जाता तो कृति 'दलित साहित्य' की अनोखी उपलब्धि होती।

उपन्यास में कहीं–कहीं भाषा, बोली के शब्द, अंग्रेजी के शब्द, मुहावरेदानी, कहावतों जैसी उक्तियों उपन्यास की रचनात्मकता में सहायक हैं। भाषा में प्रेमचन्दी पुट सामान्यता या आधुनिक वैशिष्ट्य के साथ रच–बस गयी है। श्रीराम वर्मा के शब्दों में "प्रेमचंद की कथा, कथन–भंगिमा, रेणु की आंचलिकता और अज्ञेय तथा राजेन्द्रयादव की मनावैज्ञानिक गहाराई तथा मन एवं घटना का तार्किक संबंध निर्वाह गिरिराज किशोर में एक जगह देखा जा सकता है"[69] जरुरत के मुताबिक उपन्यास में छोटे–छोटे वाक्य और पत्राचार हैं। उपन्यास बारह अध्याय में समाप्त हो जाता है। लेकिन लेखक ने आगे एक 'परिशिष्ट' जोड़ दिया है जिसमें जांच रिपोर्ट का खुलासा है, उस पर व्यग्योक्तियां है और फिर सुबरन चौधरी की अपराजय विवशता से लदा कारुणिक वह पत्र है जो कथा की त्रासदी को महागाथा का रुप देता है। यह अंश न भी होता तो पाठक को उपन्यास खत्म लगता, लेकिन इससे जो बात बनी है, वह न बनती और यह उपन्यास चाहे जितना यथार्थ पुष्ट होता, मानवीयता–पुष्टी में कम प्रमाणिक होता।

5. बौद्धिक बिरादरी और सरकारी तंत्रः किस्सागुलाम और यथाप्रस्तावित

---

[68] डा. पुरुषोतम अग्रवाल – संस्कृति, वर्चस्व और प्रतिरोध, पृ.97
[69] विश्वनाथ प्रसाद त्रिवारी (सं) – दस्तावेज, जु. 1985, पृ. 51

प्रसिद्ध कथाकार रमेशचन्द शाह का 'किस्सा गुलाम' 1986 में प्रकाशित हुआ। उपन्यास की कथा भूमि पर्वतीय अंचल और वहां की अस्पृश्य जाति 'डूम' पर केन्द्रित है। लेकिन इसका वस्तुजगत डुमौड़ा नहीं, अंतर्राष्ट्रीय बौद्धिक बिरादरी है जिसमें अस्वस्थ प्रतियोगिता, टुच्ची ईर्ष्या और घटिया राजनीति के दमतोड़ स्नायविक दबाव हैं। आज के आधुनिक कहे जाने वाले समय में भी लगभग अमानवीय रुप से स्वचालित, निर्वैयक्तिक एवं उदासीन नियमानुगामिता का संस्थागत चरित्र और भीतरी स्वार्थों द्वारा अपने पक्ष में उसका उपयोग कर लेने की चालाकी, चुतुराई का चित्रण निश्चय ही इस उपन्यास की मूल्यवान उपलब्धि है। जो यह दर्शाता है कि प्रतिभा संपन्न एवं प्रगति की दौड़ में होड़ करने वाले दलित समाज के व्यक्तियों को कितनी यातना–वेदना का शिकार होना पड़ता है।

'किस्सागुलाम' के नायक का परिचय "के. एल. तामता, फेलो ऑफ इन्टरनेशनल सोसायटी ऑफ एथ्रोपॉलिजिस्ट्स उर्फ कुंदन लाल तामता, मुहल्ला डुमौड़ा, अनन्तपुर"[70] के वाक्य में दिया है; जिसमें नायक का सम्पूर्ण संसार फैला हुआ है। जिसको वह नकारता है। उसका पहला संसार असफल आदर्शवादी पिता, परिवार और परिवेश का है और दूसरा अंतर्राष्ट्रीय बौद्धिक समाज की संबद्धता का। एक को नकार कर और दूसरे द्वारा नकारा जाकर कुंदन अनेक स्तरीय भावात्मक और विचारात्मक टकराहटों से जूझता हुआ एक गहरे और सूक्ष्म आत्म–विश्लेषण से गुजरता है। अपने साथ संम्पूर्ण परिवेश को अतीत के अवशेष और वर्तमान के संघर्ष–द्वन्द को एक नई प्रखरता और बौद्धिक तेजस्विता में देखना और जकड़न से मुक्त होता है।

उपन्यास का नायक उस विध्वंश का साक्षी और भोक्ता है जो हमारे पारम्परिक सामाजिक जीवन में दलित–समाज और इस समाज में भी दलितों में दलित को प्रतिदिन भोगना पड़ता है। इसका प्रारम्भ स्कूल जीवन से ही हो जाता है। कुदंन को स्कूल में वर्णमाला बताई जाती है और याद करने के लिए मास्टर जी कहते हैं। गुरुजी टम्टा के माने कुंदन से पूछते हैं– टम्टा के माने जानता है?... अरे कैसा टम्टा हो जो टम्टा के माने नहीं जानता। बताओरे इस टम्टे को, टम्टा का मतलब'।[71] इस पर एक लड़का अर्थ बताते हुए कहता है –" जो तॉबे के बरतन बनाता है, गुरुजी तब तो ये भी ठठेरा ही हुआ। इस तरह लड़के उसका मजाक उड़ाते हैं। कुंदन को अगले वर्ण 'ड'

---

[70] किस्सा गुलाम, पृ. 63
[71] किस्सा गुलाम, पृ. 63

से और डर लगता है। "जब 'ड' से डमरु निकल आया तो 'डूम' निकलते किनती देर लगेगी? जिस दिन से स्कूल में नाम लिखवाया, एक दिन ऐसा नहीं गया, जब किसी ने पीछे या आगे से डूम कहके न चिढ़ाया हो"[72] लेकिन गुरुजी भी है कि उसी वर्ण को पकड़े हुए है। इस पर पूरन पॉडे चिल्ला पड़ता है– मैं बताऊँ। गुरुजी 'ड' "माने डुमौड़ा। जब मास्टर जी डुमौड़ा माने पूछते है तो वह कहता है' जहां डूम रहते हैं। इस पर कक्षा में एक सिरे से दूसरे तक दबी हंसी फफता गई। इस पर वह रोने लगता है तब कुंदन का अर्थ बताते हुए मास्टर जी कहते है– खरा सोना।" उसे अपना नाम बुरा नहीं लगता, अच्छा ही लगता है बस उसके साथ चिपका हुआ यह 'टम्टा' अच्छा नहीं लगता। कुन्दन जोशी होता, कुन्दन सिंह... होता तो कितना अच्छा रहता।"[73] इसलिए वह 'टम्टा' के पूछल्ले से किसी तरह पिंड छुड़ाने के बारे में सोचता हैं।

कुंदन लाल टमटा का परिवार शिक्षित, साधन संपन्न है। उसके पिता ब्रिटिश शासन के दौरान पटवारी रह चुके थे लेकिन गाँधी जी और भारत छोड़ो आंदोलन के प्रभाव में आकार उन्होंने पटवारीगिरी छोड़ दी और समाजसुधार का कार्य करने लगे। नायक का ननिहाल पढ़ा–लिखा और सभी विचारधारा से जुड़े लोगों का है। उसके पिता नारायण लाल टम्टा पक्के गाँधीवादी विचारों से ओतप्रोत नेता हैं वे पूरी ईमानदारी से अपना कर्त्तव्य निभाते हैं। परन्तु जब चुनाव का समय आता है तो उन्हें टिकट नहीं मिलता है। इसके लिए जोड़–तोड़ चलता है। अंततः टिकट नहीं मिलता है तब कहते हैं–"मेरी एक मात्र योग्यता यही है कि मैं शिड्यूल कास्ट हूँ, समझी? शिड्यूल कास्ट नहीं होता तो इतनी हायतोबा भी नहीं होती। इतने बरस हो गए मुझे काम करते, कभी देखा तूने इन लोगों को मुझमें दिलचस्पी लेते?"[74] नारायण लाला इसको बड़ी गहरी वेदना से महसूस करता है। इसका फायदा उठाते हुए समाजवादी पार्टी के लोग उसे टिकट देने की बात करते हैं तो वह भयवश इंकार कर देता है।' पिताजी को अपनी सामाजिक हैसियत का, अपने शूद्र होने का बहुत गहरा अहसास था, मगर इस अहसास को उनकी गाँधी भक्ति ने दबा रखा था"।[75] नारायण लाल का भय 'शूद्र' और इस कारण हार जाने का है। परिवार तथा समाज के दबाव में वह घर छोड़कर भाग जाते हैं।

---

[72] किस्सा गुलाम, पृ. 63
[73] वही, पृ. 66
[74] ,वही पृ. 179
[75] वही, पृ. 177

कुंदन अपने पिता को आदर्श मानता था। लेकिन उनके गृह त्याग ने उसके मन में ग्लानि पैदा कर दी कि " कैसे वह इस आदमी को अपना आदर्श मानता रहा। एक बुनियादी तौर पर क्रूर और गैर जिम्मेदार आदमी को। एक झटके में वह इस नतीजे पर पहुँचता है कि वह तो शुरु से ही भगोड़े थे। यह घटना तो मात्र परिणति थी।[76] यही से कुंदन इस मोह से छुटकारा पाने के लिए दृढ़ संकल्प लेता है और इसी में अपना भविष्य देखता है" जब तक वह पिता को अपने मन से ही नहीं, अपने जीवन से भी नहीं निकाल देता, तब तक वह उनसे असुरक्षित ही रहेगा, तब तक वह कुछ नहीं कर सकेगा, तब तक वह इस दुनिया में अपने लिए कोई जगह नहीं बना सकेगा।"[77]

कुंदन दुनिया में अपनी जगह बनाने के लिए घर छोड़कर लखनऊ विश्वविद्यालय में प्रवेश लेता है। वह अपने मामा के साथ रहता है। इसके पश्चात वह उच्च शिक्षा के लिए जर्मनी जाता है। इस पर उसके पिता समझाते हुए कहते हैं–"अपने देश और देशवासियों का स्तीभर भी अंदाज है? खासकर हमारे पढ़े–लिखे नौजवानों को, अरे इतना बड़ा देश है अपने आप में पूरी दूनिया है"[78] वे विदेशी शिक्षा को अपने भोले–भाले देशवासियों को ठगने के, तुम्हे बेवकूफ बनाने के कुछ नए हथकंडे के रूप में मानते हैं। नारायण की ये बाते रामदत्त मास्टर को एक नया छुआछूत लगता है। लेकिन नारायण इस पर राजी होते है कि "ये जो विशेषज्ञ बनने जाते हैं, उन्हें पहले वेद–पुराण पढ़ाके भेजना चाहिए। कुछ जड़ तो जमे इनकी।"[79] इस पर कुंदन कहता है कि 'वेद–पुराण सब शुद्ध बकवास के सिवाय कुछ नहीं है, क्या है उनमें? ज्ञान से उनका क्या संबंध है? आपका धर्मशास्त्र कितना मानवीय है? वेद का पाठ भर कोई शुद्र सुन ले तो उसके कानों में पिघला सीसा भर देना चाहिए, ऐसा आप की मनुस्मृति में लिखा है और आप कहते हैं वेद–पुराण पढ़ो, साइंस पढ़ने की क्या जरुरत है"[80] रामदत्त मास्टर इस पर नाराज नजर आते हैं। वेद–पुराण में तुझे बस इतना ही मिला कुंदन?'

लेकिन लेखकं ने कुंदन के परम्परागत विरोधी विचारों को अंत में नया मोड़ देते हुए उसे परम्परा पोषक बना देता है। कुंदन–जोसेफ संवाद में कुंदन का एकाएक परिवर्तन पाठक को समझ में नहीं आता है। जो आदमी एक समय अपना धर्म त्याग रहा था, जो वेद–पुराण को बकवास

---

[76] किस्सा गुलाम, पृ. 180
[77] वही, पृ. 180
[78] वही पृ. 217
[79] वही, पृ. 222
[80] वहीं, पृ. 259

कहता है वह परम्परावादी कैसे हो जाता है? शायद इसके मूल में लेखक का विदेशी संस्कृति के प्रति पूर्वाग्रह काम कर रहा था। कुंदन के सनातन धर्म के पक्ष लेने पर जोसेफ कहता है–"तुम तो स्वयं शूद्र हो कुंदन। सनातन धर्म तो सवर्णों का हुआ करता था"[81] अब उसे पश्चिम की संस्कृति प्रभावित करने के बजाय आतंकित करती है। वह सनातन धर्म के बारे में कहता है–"पर इतना जरुर मानना पड़ेगा कि सदियों से यह धर्म तंत्र जो समाज को शिक्षित करने का, उसे परस्पर एक जुट रहने का काम बखूबी निभाता चला आ रहा था, वैसा आज नहीं है।"[82] इसका कारण उसे लगाता है कि ' अपनी विदेशी तालीम के कारण ही अपनी परम्परागत स्वदेशी बुद्धि से कटते चले गए।

उपन्यास तीन खण्ड़ों में बंटा है– प्रथम और अंतिम खण्ड में कुंदन का पाश्चात्य संस्कृति से लगाव, उसकी निजी जिंदगी तथा अन्य यूरोपीय मित्रों से संवाद का वर्णन है। जबकि द्वितीय खण्ड में भारतीय समाज और उसमें जीवन संघर्ष तथा पारिवारिक द्वन्द्व का चित्रण हुआ है। उपन्यास डायरी शैली में लिखा गया है। इसमें सारी घटना का साक्षी स्वयं 'मैं' हूँ। कही–कहीं वाद–विवाद और प्रश्नोत्तर शैली उपन्यास को जीवंतता प्रदान करती है। पाठक को कही–कही लगता है कि 'मैं' से बाते कर रहा है " जै हो श्रीमान .... आपकों बहुत–बहुत धन्यवाद, दरवाजा खोलने के लिए। मुझे आपसे काम है। सुनिए क्या हुआ आपको? आपकी तबीयत तो ठीक है"?[83] पाठक का 'मैं' से तादाम्य स्थापित हो जाता है। शब्दों का प्रयोग आम–बोलचाल तथा बौद्धिक समाज के बीच से लिए गए है। अंग्रेजी शब्दों का यथा स्थान ही प्रयोग हुआ है जो वर्तमान बोलचाल की भाषा का संकेत करता है।

गिरिराज किशोर का उपन्यास 'यथाप्रस्तावित' 1982 में प्रकाशित हुआ। लेखक ने परम्परा से हटकर सर्वथा नया विषय चुना है। इसमें सरकारी कार्यालयों में हो रहे दलितों के प्रति शोषण और अन्याय का मार्मिक चित्रण हैं। यह भारतीय प्रशासन के अमानवीय ढांचे को आलोचनात्मक तथा व्यंग की दृष्टि से चित्रित किया है। यह उपन्यास व्यवस्था की नंगी सच्चाईयों का भरपूर दस्तावेज है, जो इस कटु सत्य से पाठक का साक्षात्कार करवाता है, कि व्यवस्थाएं बड़ी मजबूत होती है, आदमी बहुत कमजोर होता है। व्यवस्था चाहे दफ्तर की हो या समाज की, उसके सामने

---

81 किस्सा गुलाम, पृ. 259
82 किस्सा गुलाम, पृ. 263
83 वही, पृ. 11

अच्छे–अच्छे व्यक्ति कमजोर सिद्ध हो जाते हैं, जैसे इस उपन्यास को कहने वाला अधिकारी। वह लाख चाहने पर भी उन कागजों के विपरित नहीं जा पाता जो सर्वथा अन्याय की भूमि पर खड़े थे। इस कुछ न कर पाने की स्थिति के कारण ही एक दलित पात्र (बालेदार) इतनी यातना भोगता है, कि उसकी नौकरी भी छूट जाती है। इस कारण वह मानसिक रोगी हो जाता है।

गिरिराज किशोर का उपन्यास 'यथाप्रस्तावित' 'मैं' के अन्तर्द्वन्द के रुप में प्रस्तुत हुआ हे। 'मैं' बालेसर के 'त्यागपत्र' का प्रमोद सरीखा केवल श्रोता पात्र नहीं, प्रत्युत उसकी सहभागिता मानवीय संवेदना को रुपायित करती है। 'मैं' के भीतर जगता तीखा एहसाह उसके अन्तर्द्वन्द्व में अभिव्यक्ति पाता है। दो पाटों के बीच पिसता 'मैं' एक विचित्र स्थिति का शिकार है–"बड़े बाबू चले गऐ थे। बालेसर की घरवाली चली गई थी। गया नहीं था तो मैं नहीं गया था। उसी हालत में, अकेला वहीं का वहीं बैठा था।"[84] एक ओर वह प्रतिष्ठान का उच्च अधिकारी है तो दूसरी ओर सहानुभूतिशील मनुष्य। एक ओर दफ्तर के कायदे कानून उसे अफसरी घेरे से बाहर नहीं आने देते तो दूसरी ओर बालेसर के प्रति होते अन्याय की अनुभूति से वह पुनः पुनः समाहित होता है। वह चाहता है कि अन्य अफसरों की भांति तटस्थ होकर मिसिल के कृत निर्णय (यथा प्रस्तावित) पर स्वीकृति की मोहर लगा दे, अन्ततः वह ऐसा करता भी है; किन्तु ऐसा करना उसे अग्नि परीक्षा से गुजरते हुए तीव्र ग्लानि, अनुताप और वेदना का बोध देता है। यद्यपि बालेसर को निकाले जाने का केस कानूनी कार्यवाही के लिहाज से पुष्ट है तथापि वह मानवीय औचित्य की दृष्टि से 'मैं' को आश्वस्त नहीं कर पाता।

बालेसर सरकारी दफ्तर में चपरासी की नौकरी करता था। उस पर विभिन्न आरोप लगाकर उसे निलंबित कर दिया जाता है। जाँच रिपोर्ट में उसके निलंबन का कारण– अधिकारियों के साथ झगड़ा तथा मारपीट (कभी–कभी), और समय से पहले कार्यालय छोड़कर घर जाना उल्लेखित है। इन दोनों कारणों का स्पष्टीकरण बालेसर के पत्रों में उल्लेखित है लेकिन इसको नजरअंदाज कर दिया जाता है। दफ्तर में उसके हाथ का पानी पीना तो दूर, खुद उसे भी घड़े को छूने की इजाजत नही थी। ऐसी परिस्थिति में वह मजबूरन अधिकारियों से उलझ जाता है। बालेसर विभाग में दो साल से कार्यरत हैं उसके साथ के अधिकांश लोगों को स्थाई छः महीने में ही कर दिया गया, यहां तक उससे बाद वालों को भी स्थाई कर दिया जाता हैं परन्तु दलित होने

---

[84] यथा प्रस्तावित, पृ. 24

के कारण उसे स्थाई करना तो दूर उसको निलंबित कर दिया जाता है। इस पर एक जाँच कमेटी बैठायी जाती है जिसने उसके निलंबन को उचित ठहराया। इसकी निष्पक्षता की जांच के लिए एक अधिकारी की नियुक्ति होती है। वह बालेसर की फाइल के साथ–साथ उसकी पत्नी और घर भी जाता हैं इससे विभाग के लोगों उस पर चरित्रहीनता का आरोप लगाते हैं।

अधिकारी जब बालेसर के घर जाता है तो वहां के लोग उसको वहां से हटाने की बात कहते हैं और बालेसर की पत्नी पर लांछन लगाते हैं "सारे मोहल्ले का वातावरण विगाड़ रखा है।... आखिर यहां भी भले घरों की बहू–बेटियां रहती हैं।"[85] वे बालेसर को हरामी, बदतमीज और बदमाश कहते हैं तथा पत्नी को बद्चलन–तभी तो इतने बड़े आदमी खिंचे चले आते हैं। 'मैं' खुद इन आरोपों से आहत हो कर चला आता है।

बालेसर के खिलाफ सभी है। यहां तक कि उसके साथ काम करने वाले भी। आफिस का एक कर्मचारी कहता है "वह तो शातिर आदमी है, शातिर ही नहीं, खतरनाक भी। आप उसकी फाइल पढ़कर देखे.... यहां के प्रशासन ने उसके ऊपर कितनी दया की और कितनी बार उसकी गुस्ताखियों को माफ किया।"[86] बालेसर के बारे में उसकी धारणा उसकी जाति के कारण बनी। अधिकारी के हस्तक्षेप पर वह संकोच पूर्वक कहता है –"आप कारण दे कर उन संस्तुतियों से अपनी असहमति भी प्रकट कर सकते हैं और उसे निर्दोष भी घोषित कर सकते हैं। मै तो.... मै तो सिर्फ इसलिए कह रहा था.....।"[87]

जातिवादी (मानसिकता) घृणा उसका कहीं भी पीछा नहीं छोड़ती है। जहां भी रहता है वहां यदि जाति का पता चल जाता है तो उससे लोग घृणा करने लगते है। गाँव में बच्चे से लेकर बूढ़े तक उन्हें जीने नहीं देते हैं। उसके सिगड़ी (चूल्हा) बाहर जलाने का भी विरोध किया जाता है जैसे कि हमारी सिगड़ी से निकाला धुआँ भी इन्हें अपवित्र कर देगा। बालेसर को कुछ समय पश्चात् सरकारी क्वाटर मिलता है। इससे सुशिक्षित पढ़े–लिखे समाज में खलबली मच जाती है। ऊँची जात के लोग उनके उठने–बैठने, घुमने–फिरने पर आपत्ति करते है। सबसे बड़ी कठिनाई पाखाने और गुसलखाने की है। वे इसका प्रयोग करके तुरन्त साफ भी कर देते हैं लेकिन लोगों

---

[85] यथा प्रस्तावित, पृ. 41
[86] वही, पृ. 53
[87] वही, पृ. 53

को फिर भी आपत्ति है। वहां उसे घर में बंद कर आग लगा देने की धमकी दी जाती है। इस पर वह अर्जी देता है– "हम केवल इतना ही चाहते है कि हमारा मकान बदल दिया जाय और ऐसी जगह दे दिया जाय जहाँ ऐसे लोग रहते हो जिन्हें हमारे साथ रहने में ऐतराज न हो, अगर हो भी तो कम से कम वे हमें इंसान और हमारे जिंदा रहने से परेशानी का अनुभव न करें।"[88] ऐसा स्थान दलित बस्ती के अलावा क्या हो सकता है? अंततः हारकर अपनी पुरानी स्थिति में जाने को अभिशप्त हो जाता है।

प्रस्तुत उपन्यास में बहुत सीमा तक बाह्य संघर्ष का अभाव है। बालेसर का संघर्ष पत्रावली के पन्नों पर होने से परोक्ष हो गया है। केवल संघर्ष की परिणति– उसका विक्षिप्त हो जाना ही प्रत्यक्ष है जो व्यवस्था पर व्यंग के अर्थ में बेहतर समझा जा सकता है। उसकी पत्नी का थोड़ा–बहुत संघर्ष अवश्य उपन्यास के आरम्भ में है। किन्तु कुछ पृष्ठों बाद ही वह रंगस्थली से हट जाती है।

यथाप्रस्तावित की मूल लय व्यंगपरक है। वह व्यंग प्रसंगों की गतिशीलता तथा कथानक के विकास में प्रतिफलित हुआ। व्यंग को सिद्ध करने के लिए एक जाँच प्रकरण का आश्रय लिया गया है। इस जाँच के परिणाम रचना को व्यंगधर्मी बनाकर नाटकीय आयाम देते हैं। 'यथा–प्रस्तावित' का ऊपर तक अंधानुमोदन होते जाना व्यवस्था के मशीनी और अविवेकपूर्ण होने का साक्ष्य प्रस्तुत करता है। सत्यान्वेषण के नाम पर सत्याच्छादन और नियमों के अनुपालन में मानवीय गरिमा के नियम का उलंघन इस रचना का सर्वोपरि व्यंग बनकर उभरता है।

यथा प्रस्तावित की विडम्बित परिणतियां व्यंग को पुष्ट करती है। अफसर बनकर मानवीय पीड़ा से अपरिचित बन जाना, सरकारी कार्यालय में कागज को प्रमाण मानना और जीवित का अस्वीकार, जनहित के नाम पर काम करने का दावा पर भी जनहित न हो सकता, अस्पृश्यता उन्मूलन की भावना से किए गए संरक्षण की बार – बार दुहाई देकर आरक्षित के हीनभाव को पुष्ट करते जाना, प्रस्तावित मात्र को कबूलने की सरकारी कच्ची पद्धति का अकाट्य प्रयोग आदि को चरितार्थ करती प्रतिकूल – परिणामी स्थितियां उपन्यास को नाटकीय आयम देती हैं।

---

[88] यथा प्रस्तावित, पृ. 120

'यथा प्रस्तावित' अपनी परिमिति में संकुल प्रभाव उत्पन्न करता है। पूरी कथा का निर्वाह एक ही स्थान पर सीमित समय में हुआ है। सारी कथा एक ही व्यक्ति (मैं) के दृष्टिकोण से कही गई है। कुल मिलकर 'यथा प्रस्तावित' कागजी न्याय द्वारा मानवीय गारिमा के रौंदे जाने की प्रकिया को दिखाता है जिसमें नियमों का खोखलापन व्यंग बनकर उभरता है।

उपरोक्त विवेचित उपन्यासों के आधार पर कुछ सामान्य निष्कर्ष निकाले जा सकते है। प्रथमतः यह कि सभी उपन्यासों में समाज व्यवस्था के विरोध का अभाव खटकता है। स्वतंत्रता के बाद भी हमारा समाज जातिव्यवस्था से मुक्त नही हो सका है। इसका प्रभाव सभी स्वरों – शिक्षा समाज, साहित्य और राजतीति में दिखाई देता है। अर्थात दलित आज भी जातिवाद की चक्की में पिस रहा है। दलित शोषण का चित्रण तो मिलता है लेकिन में नहीं मिलता की आलोचना का साहस किसी लेखक में नहीं मिलता है लेकिन इस व्यवस्था की आलोचना का साहस किसी लेखक में नही मिलता है। दूसरे शब्दों में लेखक अपने जाति के संस्कारों से ऊपर नहीं उठ सके है। दूसरा यह कि सभी लेखकों ने दलित शोषण के मूल में आर्थिक स्थिति को माना है न कि सामाजिक व्यवस्था को। अगर यह मान भी लें तो इसके मूल में क्या कारण थे? इसको किसी लेखक ने या तो जानने या समझने की कोशिश नहीं कि या फिर जान बूझकर ऐसा किया गया। क्योंकि हम जानते हैं कि भारतीय समाज में दलितों को सिर्फ और सिर्फ सदियों से सेवा और कर्म करने की शिक्षा दी गई। उनका फल किसी और के हाथ में था।

एक सबसे महव्वपूर्ण बात यह कि इनमें से कोई भी उपन्यास दलित आंदोलन या दलित संघर्ष से प्रभावित होकर लिखा गया हो, ऐसा नहीं लगता। तो क्या यह मान लिया जाय कि इतिहास में दलित आंदोलन हुए ही नहीं? शंबूक, एकलब्य की विद्रोह परम्परा को फुले, अम्बेडकर, पेरियार आदि ने जारी रखा। फिर भी उनको समाज, साहित्य, राजनीति में जगह नहीं मिली। ये लोग गैर दलित लेखकों को प्रभावति नहीं कर सके। वे तो सिर्फ गाँधी जी से प्रभावित हुए। जो अस्पृश्यता को समाप्त करना चाहते थे, लेकिन वर्णाश्रम धर्म को नहीं। गाँधीवाद ही इन उपन्यासकारों की सीमा है। दलित समस्या से जुड़ा हुआ इनका लेखन गाँधीवादी फ्रेम में ही बंधकर रह गया है। दलित समस्या पर गाँधीवादी दृष्टि ही लेखकों ने अपनाया। गाँधीजी का मंदिर प्रवेश आंदोलन और गाँधीवादी सोच इन उपन्यासों के पात्रों पर हावी है। इसलिए उनमें संधर्ष चेतना का अभाव मिलता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि पात्रों का स्वाभाविक

विकास नहीं होने दिया गया है। दूसरी सीमा लेखकीय पूर्वाग्रह की है अर्थात् ब्राह्मणवादी संस्कारों से वे मुक्त नहीं हो सके। इसका परिणाम यह है कि सभी उपन्यासों में जाति को जन्म से जोड़ा गया है। दलित अपनी समस्याओं को पूर्व जन्मों का फल मान लेते है। उनको परलोक की चिंता अधिक रहती है। इसलिए उनमें मुक्ति की आकांक्षा और चेतना नहीं मिलती है। जाति को दलितों की नियति सिद्ध कर दिया जाता है।

इसके बावजूद विवेचित उपन्यासों की महत्वपूर्ण उपलब्धि यह रही कि इनमें दलित शोषण का यथार्थ रुप चित्रित हुआ। यह एक तथ्य समग्रता में उभर कर आता है कि संवेदना शून्य और भावनात्मक रूप से मर चुके समाज का चित्रण, जिसमें मनुष्य, मनुष्य से घृणा करता है। आज स्थिति जरुर बदली है। लेकिन मानसिकता वही है। यह समाज के लिए सबसे घातक है। लेखक दलित शोषण के औजारों (जमीदारी, सामंती, महाजनी, जातिवाद) को वर्तमान बदली हुई परिस्थिति में, बदले हुए रुप में करते है। धर्म की भूमिका को धार्मिक ठेकेदारों के माध्यम से सामने लाते हैं। चूंकि दलित समाज में अशिक्षा अधिक है। इसलिए धार्मिक पाखण्डियों को अपने उल्लू सीधा करने में कोई कठिनाई नहीं होती। कुछ एक लेखकों ने इस तथ्य को सामने लाया कि धर्म परिवर्तन इन समस्याओं का हल नहीं है। धर्म परिवर्तन के बावजूद दलित, दलित ही रहा। क्योंकि यहां सभी धर्मों ने जाति–व्यवस्था को स्वीकार लिया था और लोगों की मानसिकता नहीं बदली। डा. अम्बेडकर और उनके नेतृत्व में दलितों ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया। आज बौद्ध कहने का अर्थ सवर्णों के लिए दलित ही हो गया है।

हर समाज की कुछ अलग पहचान होती हैं उनमें कुछ प्रचलित मान्यताएं और रीति–रिवाज होते है। चूंकि भारतीय समाज व्यवस्था जाति पर आधारित है इसलिए यहां हर जाति की अलग कुछ मान्यताएं और रीति–रिवाज है; जो उनकी पहचान बना गई हैं दलित संस्कृति का विभिन्न उपन्यासों के आधार पर अध्ययन अगले अध्याय में किया गया है।

अध्याय – चार

स्वातंत्रयोत्तर हिन्दी उपन्यासों में दलित संस्कृति

हिन्दी में 'संस्कृति' शब्द अंग्रेजी शब्द 'कल्चर' का पर्याय माना जाता है। संस्कृति से अभिप्राय मानव जाति के रहन–सहन, आचार–विचार, भावनाएं, विश्वास, विचारों एवं विभिन्न प्रकार की उपलब्धियों से समग्र रुप से है। मोटे तौर पर संस्कृति के दो पहलू माने जाते है– एक ओर संस्कृति मनुष्य की क्षमता, कुशलता, जीवन के आदर्शों एवं प्रतिमानों को बताती है तो दूसरी ओर वह मनुष्य की भौतिक उपलब्धियों को।

'संस्कृति' किसी राष्ट्र अथवा जाति की आत्मा होती है। संस्कृति से राष्ट्र अथवा जाति के संस्कारों का बोध होता है। जिनके आलंबन से वह अपने सामाजिक जीवन के आदर्शों का निर्माण करता है। संस्कृति धर्म, दर्शन, साहित्य–संगीत एवं कला के रुप में व्यक्त होती है। यह विशेष मानव समुदाय के उन उदात्त मूल्यों का काम करती है, जो मानव जाति में सर्वत्र पाये जाने पर भी उस समुदाय की विशेषता को प्रकट करते हैं।

'संस्कृति' के अर्थ और परिभाषा को विभिन्न विद्वानों के आलोक में समझने का प्रयास करते हैं। मानव शास्त्रियों का मानना है कि मानव का व्यवहार संभवतः सबसे अधिक संस्कृति से ही निर्धारित होता है जबकि समाजशास्त्रीय समाज की धरोहर या रियासत के रुप में देखते हैं। मानव इसलिए मानव है कि उसके पास संस्कृति है। संस्कृति के अभाव में मानव को पशु से श्रेष्ठ नहीं माना जा सकता। मानवशास्त्री मजूमदार व मदान 'लोगों के जीने के ढंग को ही संस्कृति मानते हैं।"[1] अर्थात मानव का व्यवहार सबसे अधिक संस्कृति से ही निर्धारित होता है। संस्कृति की जो परिभाषा टॉयलर ने दी है वह आज भी सर्वस्वीकृत है। उनके अनुसार " संस्कृति वह समग्र जटिलता है। जिसमें ज्ञान–विज्ञान, विश्वास, कला, आचार, कानून तथा और ऐसे ही अन्य क्षमताओं एवं आदतों का समावेश है जो मनुष्य एक समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है।"[2] इससे स्पष्ट है कि संस्कृति सामाजिक विरासत है। डा. श्यामाचरण दुबे के शब्दों में" सीखे हुए व्यवहार

---

[1] एम. एल. गुप्ता एवं डी. डी. शर्मा – समाज शास्त्र, पृ. 334
[2] वही, पृ. 334

प्रकारों की उस समग्रता को जो किसी समूह को वैशिष्ट्य प्रदान करती है, संस्कृति की संज्ञा दी जा सकती है। दूसरे शब्दों में किसी समूह के ऐतिहासिक विकास में जीवन यापन के जो विशिष्ट स्वरुप विकसित हो जाते हैं। वे ही उस समूह की संस्कृति है।"[3]

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि संस्कृति एक व्यापक अवधारण है जिसके अन्तर्गत मानव के समस्त क्रिया–कलाप, रीति–रिवाज, आध्यात्मिक जीवन की शुद्धता एवं समृद्धि आदि समाहित किए जाते हैं। प्रत्येक संस्कृति व्यवहार के प्रतिमानों का निर्माण करती है। प्रतिमान की व्यवस्था से सांस्कृतिक संरचना में पूर्णता आती है। भारतीय संस्कृति में वर्ण व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, विवाह, जाति, संयुक्त परिवार तथा अध्यात्मवाद आदि संस्कृति के विभिन्न प्रतिमान तथा मूल्य हैं। वे सभी संस्कृति के मूल्य हैं जिन्हें व्यक्ति समाज में रहते हुए व्यवहार में लाता है। संस्कृति स्थिर और शाश्वत चीज नहीं है, लेकिन सूचना के आकाश मार्ग से भी नहीं उतरती। वह ठोस समाज से पैदा होती है। मूलतः मनुष्य की सृजनात्मक, आलोचनात्मक और आध्यात्मिक क्षमता की उपज है।

आज हम भारतीय संस्कृति के जिन मूल्यों और प्रतिमानों को आदर्शरुप में प्रस्तुत करते हैं उसकी नींव वैदिक काल में ही पड़ चुकी थी। लेकिन गुप्त काल तक आते–आते ये मूल्य और प्रतिमान इतने विकृत हो गए कि मनुष्य की (अछूत) छाया से भी लोग डरने लगे। निम्न वर्ग को प्रकृति प्रदत्त अधिकारों से वंचित कर दिया गया। समाज में नारी की स्थिति भी दिन पर दिन बिगड़ती चली गई।

वैदिक काल से ही भारतीय समाज में दो समांतर संस्कृति चली आ रही है एक आर्य तो दूसरी अनार्य संस्कृति। जहाँ आर्य संस्कृति अवैज्ञानिक, अप्रगतिशील और अमानवीय थी वही अनार्य (दलित) संस्कृति वैज्ञानिक व प्रगतिशील थी। जिसका उल्लेख वेद, ब्राह्मण, पुराण और स्मृतियों में खोजा जा सकता है। ऋग्वेद (10.22:8) में उल्लेख मिलता है कि "हम दस्युओं के बीच रहते हैं। ये लोग यज्ञ नहीं करते थे। ये किसी में भक्ति नहीं रखते। इनकी रीतियाँ पृथक हैं ये मनुष्य कहलाने योग्य नहीं हैं। शत्रुओं का नाश करने वाले इन्द्र इन लोगों का नाश किजिए।"[4] इससे स्पष्ट होता

---

[3] एम. एल. गुप्ता एवं डी. डी. शर्मा – समाज शास्त्र, पृ. 334
[4] जय प्रकाश कर्दम (स.) – दलित साहित्य वार्षिकी – 2001, पृ. 11

है कि आर्य हिंसक, भोगेश्वर्यपराण और क्रूर थे। जबकि अनार्य अहिंसक, धर्म परायण और संवेदनशील थे।

आर्य संस्कृति (ब्राह्मण) के ऐसे उदाहरणों से प्राचीन साहित्य भरा हुआ है। इन्द्र–कृष्ण युद्ध, इन्द्र को पुरन्दर कहना, दैत्यराज बालि का प्रसंग से आर्य और अनार्य संस्कृति के तत्वों को समझा जा सकता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि अभिजन सवर्णों की मनुवादी संस्कृति दरअसल असंस्कृति है जिसमें मानवता का अर्थ और मानव संवेदना का दायरा केवल कुछ जातियों तक ही सीमित रखा गया। "स्वयं इतर अधिकार प्राप्त किए और बाकी जन समूह को अधिकार विहीन बनाकर दासता से बद्तर पशुतुल्य जीवन जीने को बाध्य ही नहीं किया, इनकी संवेदना को जड़ बनाकर उन्हें उसी में संतुष्ट रखना सिखाया।... हालांकि इन उच्च जातियों में भी कुछ व्यक्ति अति संमृद्ध, अतिविशिष्ट बने, बाकी गरीब रहे। लेकिन जातिय दंभ से वे इतने आत्ममुग्ध थे कि वे बर्बर हो गए और अपने को सबसे ऊपर मानने लगे।"[5]

इस प्रकार भारत में प्रचलित जातिय व्यवस्था ने दो अलग–अलग मानदण्डों वाली संस्कृतियों को जन्म दिया और ऐसा सदियों से चला आ रहा है। इस संस्कृति में व्यक्ति हमेशा सिद्धान्तों से बड़ा रहा है। पीढ़ी दर पीढ़ी सवर्ण हो या अवर्ण उनके सामने उच्चश्रृंखल, भ्रष्ट, स्वार्थी अथवा वैभव पाने की ललक इस संस्कृति का आदर्श रहा है। चूंकि जाति व्यवस्था आज भी किसी न किसी रुप में बनी हुई है इसलिए संस्कृति का आदर्श रुप भी बना हुआ है। इस संस्कृति में तो व्यवहार में भाईचारा और बराबरी निषिद्ध है। आचार–विचार में भी घृणा का समावेश दिखाई देता है। एक उदाहरण द्वारा इसको समझा जा सकता है। 'सारी ब्राह्मणेत्तर जातियों को एक ब्राह्मण चाहे वह उम्र में कनिष्ठ हो और पद प्रतिष्ठा में हीनतर ही क्यों न हो, पालागन या प्रणाम पण्डितजी कहना पड़ता है। बदले में वह आर्शीवाद देता है। जबकि मुसलमानों में अस्सलाम वालिकुम (यानि खुदा आपको सलामत रखे) कहने पर वालिकुम सलाम (खुदा आप को भी) के समान अभिवादन है। 'गुड मार्निंग' और 'नमोबुद्धाय' भी परस्पर समता का आभास देते हैं और समान आदर प्रकट करते हैं। किन्तु मनुवादियों में जन्म सूत्र के ऊँच–नीच के अनुसार अभिवादन है। इसी तरह बुलाने, चलने, उठने, बैठने, पानी–पीने सभी में भदे–भाव है।

---

[5] रमणिका गुप्ता (सं)– दलित चेतना सोच, पृ. 15

कुल मिलाकर यह संस्कृति तो बात 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की करेगी, लेकिन इनका विश्व इनके कुटुम्ब की सीमाओं में सीमित रहेगा। इस संस्कृति में हर बर्बरता, हर जुल्म और हर पाप माफ होने का प्रावधान है लेकिन दलित और स्त्री का उस वर्ण में जन्मने का पाप क्षम्य नहीं है। वह पाप धुल नहीं सकता, उन्हें उसे पीढ़ी दर पीढ़ी भोगना है। दो मापदंडो की संस्कृति विश्व के दूसरे हिस्से में भी रही लेकिन वहां गुलामी जन्म के साथ नहीं, धन, जमीन और राजनैतिक सत्ता के साथ जुड़ी थी। अर्थात् वहां निम्न वर्ग का आदमी भी मेहनत करके उच्चवर्ग में शामिल हो सकता था। लेकिन इस संस्कृति में जो लोग जीतोड़ मेहनत, खून–पसीना एक करते थे वे ही सभी सुख सुविधाओं से वंचित कर दिए गये थे। अभी भी वह जिन मंदिरों का, जिन देवी–देवताओं, भगवनों की प्रतिमाओं का निर्माण करता है, उन्हीं मंदिरों में प्रवेश और प्रतिमाओं का स्पर्श तक वर्जित कर दिया जाता हैं। इसका ताजा उदाहरण अयोध्या में शिलादान के प्रश्न पर धटित हुआ। 'शिलादान के समय मंहत रामचंद्र परमहंस ने कहा कि वे किसी बनिए को शिलादान नही करेंगे। जबकि यह तो मात्र सांकेतिक था। अपने को परमहंस संत कहने वाला एक आदमी भारतीय संविधान की खुली अवहेलना करता है आज भी बहुत से मंदिर (दि. 2001, आंध्र प्रदेश में चन्द्रबावू नायडू का मंदिर प्रवेश आंदोलन) तथा तालाब (जनवरी 2002, जयपुर के एक गाँव में दलित द्वारा स्नान करने पर 50000 रु. का जुर्माना) दलितों के लिए वर्जित है।

अंततः सवाल सांस्कृतिकरण का रह जाता है एम. एन. श्रीनिवास सांस्कृतिकरण को परिभाषित करते हुए लिखते हैं "सांस्कृतिकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा कोई 'नीच' हिन्दू जाति या कोई जन जाति अथवा अन्य समूह किसी उच्च और प्रायः द्विज जाति की दिशा में अपने रीति–रिवाज, कर्मकाण्ड, विचारधारा और जीवन पद्धति को बदलता है।"[6] श्रीनिवास जी की यह परिभाषा एकांगी है। सांस्कृतिकरण की प्रक्रिया तो आदान–प्रदान पर निर्भर करती है। श्रीनिवास जी ने 'नीच' शब्द प्रयोग कर दलितों की संस्कृति को ही नकार दिया। अब सवाल यह है कि सांस्कृतिकरण किसका हुआ? नवजागरण से पूर्व की भारतीय समाज और संस्कृति में सती प्रथा, बाल–विवाह, नरबलि, शिशुवध, पशुबलि, विधवा जीवन, जाति प्रथा, अछुत प्रथा आदि मूल्य और आदर्श थे। यह गर्व से कहा जाता है कि भारतीय संस्कृति अनेकता में एकता, भाईचारे, वसुधैव कुटुबकम् तथा 'सत्यम् शिवम् सुदंरम्' आदर्शवाली है। क्या ये आदर्श दलितों के लिए थे? शायद

---

[6] डा. एम. एन. श्रीनिवास– आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन , पृ. 21

नहीं। जैसा कि हम जानते है– सती प्रथा, विधवा जीवन, बालविवाह, दहेज प्रथा सभी प्रथाएं दलित संस्कृति में कभी भी नहीं रहे। दलित संस्कृति के प्रगतिशील तत्वों को नवजागरण' के द्वारा अपनाया गया। ब्रिटिश सरकार ने मानवीय दृष्टि अपनाते हुए अमानवीय प्रथाओं को समाप्त कर दिया जिसके कारण उन्हें 1857 का विद्रोह झेलना पड़ा। इसीलिए भारतीय नवजागरण, 'हिन्दू' नवजागरण था। इस तरह सवर्ण जातियों का सांस्कृतिकरण हुआ। अतः श्रीनिवास जी की परिभाषा पूर्वाग्रह से ग्रसित है। उन्होंने परिभाषा देते समय दलित संस्कृति के प्रगतिशील तत्वों को नजर अंदाज कर दिया। यह अलग बात है कि सांस्कृतिकरण के दौड़ में दलित अपनी प्रगतिवादी व वैज्ञानिक संस्कृति को त्याग कर 'हिन्दू' संस्कृति को अपना रहे हैं।

वर्चस्व की संस्कृति ने सदियों से दलितों को शिक्षा से वंचित रखा। अशिक्षा के कारण उनकी संस्कृति जादू–टोने, टोटेक, भूत–प्रेत आदि विभिन्न तरह की मान्यताओं का अजयाबधर बन गई। स्वतंत्रता के बाद धीरे–धीरे स्थिति बदल रही है। जिसका आभास साहित्य, समाज और राजनीति तीनों स्तरों पर दिखाई देता है। साहित्य में जिस सिद्दत के साथ प्रेमचन्द ने दलितों की मान्यताओं, परम्पराओं और अंधविश्वासों को अपने कथा साहित्य में पिरोयित किया, आने वाली पीढ़ी उसका निर्वाह न कर सकी। निराला और नार्गाजुन के बाद फिर अस्सी के दशक में कुछ कथाकारों ने दलितों की समस्याओं को केंन्द्र में रखा। इसके बावजूद प्रेमचंद की लेखकीय परम्परा का निदर्शन नहीं मिलता है। क्योंकि अधिकांश लेखकों ने दलितों के 'सामंतीशोषण' को ही केन्द्र में रखा। वैधानिक रुप में तो सामंती व्यवस्था समाप्त हो गई लेकिन व्यवहारिक रुप गाँवों में जारी रहा। लेखकों ने धार्मिक और सांस्कृति कारणों की ओर ध्यान ही नहीं दिया। जबकि हिन्दू समाज व्यवस्था में सामाजिक राजनीतिक और आर्थिक वंचना के बावजूद दलित सबसे अधिक धार्मिक संस्कारों में बंधे हुए थे। पाप–पुण्य, नैतिक–अनैतिक, भूत प्रेत, जादू–टोना आदि का निर्वाह करना अपनी धार्मिक जिम्मेदारी समझते थे। क्योंकि उनका विश्वास था कि यह दशा उनके पूर्व कर्मों का फल है। अतः इस जन्म में अच्छे काम करना चाहिए ताकि परलोक ठीक रहे। उनका मानना था कि भाग्य में जो है उसे कोई मिटा नहीं सकता। स्वातंत्रयोत्तर उपन्यासों में इन मान्यताओं, अंधविश्वासों, रीति–रिवाजों, स्त्री–पुरुष संबंधों की झांकी मिलती है। इससे दलितों के जीवन–दर्शन को बहुत कुछ समझा जा सकता है।

No White No Need

1. <u>रीति – रिवाजः</u>

संस्कृति तथा सभ्यता के व्यपाक दायरे में आचार–विचार रीति–रस्म के नियम होते हैं जो उसके अपने होते हैं तथा दूसरों से पृथक अपना अस्तित्व रखते हुए भी एक सामान्य भाव भूमि पर 'मानव कल्याण' की दृष्टि से लगभग समान होते हैं। एक ही प्रदेश में रहने वाली सभी (उच्च से निम्न) जातियों में स्थानीय संस्कृति के कुछ तत्व समान रुप से मिलेंगे। अर्थात वे एक ही भाषा बोलेगें, समान त्यौहार मनाएंगे और कुछ सामान्य स्थानीय देवताओं और मान्याताओं को स्वीकार करते हैं। इस तरह समाज का अस्तित्व आवश्यक रुप में वहां के आचार–विचार अथवा रीति–रिवाज संबंधी मूल्यांकन के अस्तित्व से ही सहचालित होता है। तात्पर्य यह है कि रीति–रिवाजों अथवा आचार–विचार का अनुभव सभी मानवीय समाजों की एक सार्वभौम विशेषता है। इसके अतिरिक्त अलग–अलग समूह या समुदाय, वर्ग व जाति की अलग–अलग संस्कृति होती है, तथा इससे उसकी पहचान जुड़ी होती है।

रीति–रिवाज के अन्तर्गत मोटे तौर पर जन्म, विवाह, मृत्यु, उत्सव, त्यौहार, संस्कार, आदि आते हैं। रीति–रिवाज सामाजिक परम्पराओं के रुप में अपना अस्तित्व सुरक्षित रखते हैं, तथा परम्परा को लोक और शास्त्र आधार प्रदान करते हैं। परम्परा से जातीय अस्मिता और गरिमा के प्रश्न जुड़े हुए हैं। शुद्ध परम्परा कोई नहीं होती है। डा. श्यामाचरण दुबे के शब्दों में "संसार में एकदम शुद्ध परम्परा कोई है ही नहीं। प्रत्येक परम्परा पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रुप से अनेक वाह्य परम्पराओं के प्रभाव पड़ते हैं और आत्मसात किए जाते हैं"[7]

दलितों में कमोवेश सारे ब्राह्मणवादी रीति–रिवाज ही प्रचलित हैं। शास्त्रों में उल्लिखित 16 प्रमुख संस्कारों में से उन्हें जन्म, विवाह और मृत्यु संस्कार का ही अधिकार था। स्वतंत्रता के बाद दलितों में जो सांस्कृतिक परिवर्तन हुआ उसके तहत वे हिन्दू रीति–रिवाजों को पूरी तरह अपनाते गए। स्वतंत्रता के पूर्व की स्थिति कमोवेश मध्यकालीन ही थी। लेकिन किसी भी हिन्दी उपन्यास (आँचलिक उपन्यासों को छोड़कर) में चाहे वे स्वतंत्रता पूर्व के हों या स्वातंत्रयोत्तर, दलितों के रीति–रिवाजों का उल्लेख नहीं मिलता है। क्योंकि इनकी दृष्टि सामंती शोषण के इर्द–गिर्द ही घूमती रही। सामंती शोषण का आधार आर्थिक और सत्ता परक है। लेकिन धार्मिक

---

[7] डा. श्यामाचरण दुबे– समय और संस्कृति, पृ. 19

और सांस्कृतिक शोषण मानसिक गुलामी के प्रतीक है, यही दलित समस्या का आधार है। दलित हर कृत्य को नियति मानकर करता है। उनका विश्वास है कि सब कुछ भगवान के घर से लिखा हुआ आता है। हमारे बस में कुछ भी नहीं है। यहां तक कि जाति व्यवस्था को भी भगवान की बनाई हुई व्यवस्था मानते हैं तथा अपनी वर्तमान दशा को पूर्व जन्मों का फल मान लेते हैं, और परलोक की चिंता में हो रहे शोषण को सहते चले आ रहे हैं। इस तरह की मान्यताओं ने उनकी क्रांतिकारी धार को कुंद कर दिया है।

भारतीय समाज में जन्म से लेकर मृत्यु तक षोडस–संस्कारों का विधान किया गया था। देश व काल के परिवर्तन के अनुरुप आज भी समाज में ये संस्कार किसी न किसी रुप में प्रचलित हैं – जन्म, षष्ठी पूजन, नामकरण, मूण्डन, उपनयन, विवाह, मृत्युसंस्कार आदि। इससे संबंधित दलितों में प्रचलित मान्यताओं की चर्चा आवश्यक है।

हिन्दू समाज व्यवस्था में 'बांझपन' बहुत बड़ा दुर्भाग्य माना जाता है। खासकर दलितों में इसको कलंक की तरह देखा जाता है। ऐसी औरतें अपशकुन और अशुभ का प्रतीक बन जाती है। बांझपन को दूर करने के लिए जादू–टोना, मंदिर, तीर्थ, पीर, ओझा, मनौती आदि सारे उपायों को आजमाया जाता है। लड़का या लड़की होना परमात्मा के हाथ में होता है। गर्भवती स्त्री को बाहरी हवाओं से बचाने के लिए तरह–तरह के जादू–टोना करते रहते हैं। कभी–कभी इस आशंका से की बच्चा मर न जाय, वह उसे पड़ोसी को बेच देती हैं या पैदा होने पर उसका भद्दा सा नाम रखती है। दलितों में लड़का और लड़की के प्रति भेदभाव मिलता है। लड़का पैदा होने पर औरतें सोहर गाती हैं–"धनिया दोनों लड़कियों के साथ पोते के जन्मोत्सव पर गला फाड़फाड़कर सोहर गा रही थी।[8] इसमें मुख्यतया शीतला माता की स्तुति होती है। माँ को छठे दिन तक स्नान नहीं कराया जाता है। ऐसा विश्वास हे कि यदि कोई औरत इसे खा ले तो बच्चा मर जायेगा और उस औरत को बच्चा पैदा हो जायेगा। यदि बच्चा अशुभ दिन पैदा होता है तो हवन कराया जाता है। बच्चे का नामकरण प्रायः उसके जन्म के दिन या छठी के दिन किया जाता है।

दलितों के नामकरण की एक परम्परा रही है जो मनु के विधान के आधार पर पण्डित जी करते हैं– "मंगलाय ब्राहमणस्य स्यात क्षत्रियास्य बलन्वित्तम्, वैश्यस्य धन संयुक्त तुं जुगुप्सितम्'

---

[8] प्रेमचन्द, पृ. 109

अर्थात् ब्राह्मण का नाम मंगल सूचक, क्षत्रियों का बल सूचक, वैश्य का धन सूचक और शूद्र का घृणा सूचक होना चाहिए। यथा जब एक समय में चारों वर्णों के यहां पुत्र का जन्म होता है तो वे पण्डित जी से नाम पूछते हैं उनका नाम 'ब' अक्षर से निकलता है, तो पण्डित ब्राह्मण के बेटे का नाम बुद्धि बल्लभ शास्त्री, क्षत्रिय का बलवान सिंह वैश्य का बांके लाल और शूद्र का बुद्धु रखने को कहता है। चाहे बाद में सब कुछ ठीक इसके उल्टा हो जाय। गांवों में दलितो के नामकरण प्रायः उसके जन्म वाले दिन (बुद्ध बुद्धु; शुक्र–सुखई, सुक्खु), पर, यदि उसका जन्म किसी त्यौहार के दिन (पूर्णमासी– पूरन, पुनवासी; चुतुर्थी–चौथी), और कहाँ पैदा हुआ (घूर–घुरहु कतवार–कतवाक), आदि रुप में होता है। हिन्दी उपन्यासों में इन नामों के दलित पात्र भरे पड़े हैं। आम तौर पर आजकल बच्चे का वही नाम रखा जाता है जो उसके माँ–बाप को अच्छा लगता है। पण्डित से नाम पूछने पर आज–कल सिर्फ नाम का प्रथम अक्षर ही बताया जाता है।

आधुनिक समाज में विवाह संबंधी मान्यताएं परिवर्तित हो रही हैं– विशेष रुप से नारी में। पहले विवाह का निर्णय एक पक्षीय (गाँवों में अभी भी) हुआ करता था, परन्तु अब ऐसा कम है। दलित स्त्री के लिए विवाह के मामले में निर्णय लेने का अधिकार न के बराबर है। लड़की के भाग्य विधाता उसके माँ–बाप होते हैं। बेचारी गाय की तरह किसी भी खूँटे से बांध दी जाती है। प्रेमचन्द ने 'गोदान' में इसको बरीकी से दिखाया है। होरी रुपा की शादी तय करने के बाद सोचता है "रामसेवक होरी से दो ही चार साल छोटा था। कहाँ फूल सी रुपा और कहाँ वह बूढ़ा ठूँठं"[9] इसको भी तकदीर मान लेते हुए घानिया कहती है "उमिर तो ज्यादा है... तकदीर में जो लिखा होगा, वह तो आगे आयेगा"।[10] जिसकी शादी उससे पूछने की आवश्यकता ही नही? दलितों में रिश्ते के समय गोत्र, वंश, जाति, उपजाति का विशेष ध्यान रखा जाता है। पण्डित जी लगन या मुहर्त बताते हैं और फिर उसी अनुसार विवाह की रस्म पूरी की जाती है। यद्यपि सगाई अटूट संबंध होता है तथापि दलितों में सगाई टूटने के बड़े आश्चर्य जनक प्रसंग है– "संबंधित परिवारों के बीच विवाद (कलह) या किसी असाध्य रोग या लड़के–लड़की में से किसी का दुर्बल होना तथा भूत–प्रेत के कारण सगाई तोड़ी जा सकती है।"[11] विवाह के समय विभिन्न अवसरों पर विभिन्न गीत औरतें गाती है । बरातियों के खाने के अवसर पर औरतें विशेष रूप से अश्लील गीत गाती हैं

---

[9] गोदान, पृ. 292
[10] वही,. पृ. 295
[11] ब्लूमून बुक्स– चमार, पृ 62

जिसमें दूल्हे तथा उसके अन्य स्वजनों को गालियां दी जाती है । कुछ जातियों में अब "पन्डित का कार्य स्वयं उन्ही के बीच का पढ़ा – लिखा व्यक्ति करता है परन्तु मंत्रोचार वही होते है।"[12] मजे की बात यह है कि वे कहेंगे कि हम पण्डित वंडित नहीं मानते हैं ।

दलितों में अधिकांशतः बाल – विवाह प्रचलित है । यह कानून के बावजूद जारी है । वे विवाह को भी एक ऋण मानते हैं। "कभी – कभी बच्चा पैदा होने के एक – दो वर्ष बाद ही सगाई कर दी जाती है । चूकिं कम उम्र में विवाह हो जाते हैं इसलिए रजस्वला होने पर (लड़की चौदह वर्ष और लड़का सोलह वर्ष) गौना किया जाता है गौना शादी के बाद पहले, दूसरे, पाँचवे अथा सांतवें वर्ष में ही होता है।" लेकिन अब इस तरह की मान्यताएं दूर हो रही है।

स्त्री – पुरूष के बीच वैवाहिक संबंध एक अटूट संबंध माना जाता है लेकिन पति की असमय मृत्यु, पत्नी के लिए धातक स्थितियों को जन्म देती रही है । आज भी रुपकंवर (1987) और चरणशाह (2001) जैसी घटनाएं समाज को कलंकित किए हुए हैं। लेकिन दलितों में विधवा विवाह हमेशा से ही प्रचालित था।" विधवा का पति के छोटे भाई से या बधू की स्वीकृति से अन्य रीतियां जैसे चादर डालना, चादर उठाना, घौटाना के रुप में संपन्न होता है।"[13]

भारतीय समाज मे दहेज प्रथा ऐसी कुरीति है जिसने मानव मूल्यों को गहराई से विघटित कर रखा है विशेष रुप से मध्यम वर्गीय परिवार में। उसके कारण स्त्रियों पर जो अत्याचार किए जा रहे है, वे अकल्पनीय है । यह कुरीति कानून बनने के बाद भी घटने के बजाय बढ़ ही रही है। दलितों में तलाक का अधिकार भी था । डा. अम्बेडकर स्पष्ट शब्दों में कहते है "दलित लोग विवाह को करार मानते है जबकि द्विज इसे पवित्र संस्कार मानते है। ..... पवित्र संस्कार वाले विवाह पुरुष के लिए बहुविवाह तथा स्त्री के लिए लगातार दासता की प्रथा है।"[14] जहाँ हिन्दू कानून में पत्नी को तलाक का अधिकार अब मिला है वहीं दलित जातियों में तलाक और पुनर्विवाह की प्रगतिशील परम्परा हमेशा से रही है। दलित समाज में प्रचलित इन सच्चाइयों से हिन्दी उपन्यास रुबरु नहीं हुए। ले देकर विवाह का ही उल्लेख करके पल्ला झाड़ लिए हैं।

---

[12] ब्लूमून बुक्स– चमार, पृ 63
[13] वही, 81
[14] रामशरण जोशी (सं) – पश्यन्ती, अप्रैल – जून 1998, पृ. 98

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने 'मनुष्यानन्द' और अमृतलाल नागर ने 'नाच्यौं बहुत गोपाल' में भंगियों के विवाह-संबंधी रीति-रिवाजों का उल्लेख किया है । "उग्र जी लिखते है" कोई बूदी भंगिन आगे बढ़ती थी । वह अनेक भूतों – प्रेतों और शैतानों का नाम लेकर वर – कन्या में प्रेम बने रहने के लिए प्रार्थना करती रहती थी । एक टुकड़ा गोश्त और कुछ बूंद शराब लिए जमीन पर शैतानों के लिए गिरा दी जाती थी । फिर वर, कन्या के माथे में सिन्दूर देता था और उसे अपनी बगल में बैठाकर अपने हाथों से शराब पिलाता था । इसके बाद सभी दारु कलिया, पूजन में सहयोग करने लगते थे। धीरे–धीरे नशे का उन्मादकारी हाथ दोनों दलों के सिर पर पड़ता था। मस्तियों, बहकी बातों और गालियों की धारा बहने लगती थी । कोई कै करने लगता था, कोई जमीन सूँघने लगता या और कोई लत्तम – जुत्तम करने। बस यही बुधुआ की जाति का सर्वश्रेष्ठ विवाह संस्कार है।"[15] भंगियों में हिन्दू – मुस्लिम कुछ भी नहीं होता । नागर जी भंगियों की रीति रस्मों का मात्र आभास कराकर छोड़ देते हैं। वे लिखते हैं" – हमारे लोगों में हिन्दू – मुसलमान कुछ नहीं होता सरकार । हमारे बाप मुसलमानी हल्के में रहते थे ..... सो सब मुसलमानी चाल – चलन अखतियार कर लिया ..... मुसलमानी राज में डर के मारे हम लोगों ने ऊपर से वही मजहब अपना लिया था । बाकी – त्यौहार रस्मे जो घर में थी वह हिन्दुतानी थी"[16] लेखक के द्वारा शादी के संबंध में पूछे गए प्रश्न के उत्तर में एक कहता है –

" निकाह नही होता हौंगा, भौरिया ही धुमाई जाती है । पण्डित आता है ?

'जी हाँ । पर वो लगन भर ही बांचता है व्याह नहीं कराता।'

'तब ऑवरे कौन फिरवाता है ?'

बस यों ही फिरवा दिए जाते हैं गाँवों में कहीं – कही नाई भी फेरे फिरवाते हैंगे।"[17]

अर्थात भंगियों में हिन्दू – मुस्लमान दोनों के रीति – रिवाज के अनुसार विवाह होता है । दूसरे शब्दों में उनकी बस्तियाँ जिनके नजदीक होती हैं उनकी संस्कृति को अपना लेते हैं।

---

[15] मनुष्यानंद, पृ. 7
[16] नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ. 26
[17] वही, पृ. 26

दलित वर्ग में मृतक संस्कार भी अजीबो गरीब हैं। उनके यहाँ मृतक संस्कार के तीनो रूप मिलते है – दाह संस्कार, दफ़नाना, और नदी में विसर्जन । यह उनकी आर्थिक स्थिति पर निर्भर करता है । वैसे यह विशेषतः क्षेत्र/समूह विशेष में प्रचालित प्रथा के अनुसार होता है । अगर मृत्यु बहुत बुजुर्ग की हुई है तो पूरे गाजे – बाजे के साथ उसकी शव यात्रा सम्पन्न होती है । 'धरती धन न अपना' में जगदीशचन्द्र ने चमारों में प्रचालित मृतक संस्कार का उल्लेख किया है । उनके अनुसार –

'स्त्रियाँ चाची को स्नान कराने की तैयारियां करने लगीं और मर्द अर्थी बनाने ने जुट गए।"[18]

X X X X

'प्रीतो, तन के कपड़े भी साथ नहीं जाते ..... कुछ भी साथ नहीं जाता'। ताई निहाली भर्राइि हुई आवाज में बोली ।'[19]

'शमशान भूमि से कुछ दूरी पर अर्थी रख दी गई और चाची के मुँह पर से पल्लू हटा दिया गया ताकि सब स्त्रियां अंतिम दर्शन कर सकें।"[20]

'रुलदू राम ने चाची की अर्थी के पास बैठकर कुछ मंत्र पढ़े और काली को धमारक (पानी से भरा हुआ मिट्टी का छोटा घड़ा) तोड़ने के लिए कहा । आचार्य के कथनानुसार काली बहुत तनमयता और श्रद्धा से सब गतिविधियों को पूरा कर रहा था ताकि उसकी किसी त्रुटि के कारण चाची की आत्मा को कष्ट न पहुँचे।[21]

"काली के हाथ ने लंबा सा बांस देकर कहा– इससे चाची का सिर ठोंक दो।

'अगर तुम ऐसा नही करोगे तो प्रतापी की गति नहीं होगी'

'काली ने रुलदू की आज्ञानुसार चाची का सिर बांस से ठोक दिया।"[22]

---

[18] धरती धन न अपना, पृ. 105
[19] वही, पृ,106
[20] वही, पृ,106
[21] वही, पृ,107
[22] वही, पृ. 108

भारतीय समाज में विभिन्न पंथों के मानने वाले लोग हैं, इसलिए उनके रीति–रिवाज पंथ विशेष के अनुसार सम्पन्न होता है। "शिवनरायण पंथ के लोग अपने शव को दफनाते हैं तो दादूपंथी लोगों के शवों को किसी जंगल या खेत में फेंक देते हैं ताकि वे पक्षियों का भोजन बनकर उनका पुण्य अर्जित कर सके। कबीर पंथी–सतनामी, रैदासी, नानक पंथी आदि में भी इसी तरह के मिलते–जुलते मृतक संस्कार होते हैं।"[23]

अंतिम संस्कार पूरा हो जाने पर सभी लोग स्नान करते हैं। कुछ लोग तालाब में तिनके गाड़ कर दस दिनों तक पानी देते है। कुछ का (चमारों) विश्वास हैं कि मृतक कभी न कभी वापस आता है विशेषतः "तीसरे दिन दिवंगत आत्मा वापस आती है, इसलिए उस दिन दरवाजे पर चुल्हे की राख विखेर दी जाती है या राख छानकर उसे छननी से ढंक दिया जाता है। सुबह उस पर निशान ढुँढे जाते हैं। यदि कोई निशान नहीं मिलता तो यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि उसका पुनर्जन्म का चक्र पूरा हो चुका है यानि दिवंगत आत्मा शांत हो चुकी है।"[24]

घरेलू रीति–रिवाज में पित्तरों की पूजा की जाती है। 'पित्र–बिसर्जन' नामक– त्यौहार पर राज्य सरकारों की छुट्टी होती है। इससे इस त्यौहार (अंधविश्वास) की आज भी सार्थकता सिद्ध हो रही है। त्यौहार, उत्सव, मेले, क्षेत्रीय विशेषताएं लिए होते हैं। मेले अधिकांशतः देव स्थानों पर ही लगते हैं। इस तरह के उल्लेख हिन्दी उपन्यासों में नहीं के बराबर है।

इस तरह हम देखते हैं कि दलितों में प्रचलित अधिकांश रीति–रिवाज अन्य जातियों (सवर्ण) में प्रचलित रीति–रिवाज के समान हैं। अशिक्षा के अभाव में उनमें बहुत से इतर रस्मों–रिवाज है। लेकिन कुछ गिने–चुने स्वातंत्रयोत्तर उपन्यासों को छोड़कर किसी भी दलित केन्द्रित उपन्यास में इनका चित्रण नहीं किया गया है। यहां तक कि दलित लेखकों द्वारा लिखित उपन्यासों में भी इसका अभाव है।

2. स्त्री–पुरुष संबंध

समाज निर्माण में नर और नारी समान रुप से सहभागी है। किसी भी समाज की उन्नति को उस समाज की नारी की स्थिति के दर्पण मे स्पष्ट देखा जा सकता है। नारी की उन्नति के

---

[23] ब्लूमून बुक्स– चमार, पृ, 88
[24] वही, पृ 91

बिना परिवार, समाज एवं राष्ट्र की उन्नति के सपने सजोना भूल है। समाज का महत्वपूर्ण अंग होते हुए भी नारी दूसरे दर्जे का नागरिक हमेशा रही। इससे उसके पुरुष के साथ संबंधों का प्रभावित होना लाजमी है।" औरत सबसे पहले अपने गर्भ में अपने लिए जगह ढूँढ़ती है। पैदा होते ही कोमलता की जंजीर में बांधकर पालतू बना दिया जाता है। "मनु से लेकर बाजारीकरण के मौजूदा दौर में उसे एक विशेष नजरिए से देखा है; अपना फैसला उस पर चस्पाँ किया है। तुम लड़की हो इसलिए सड़क, गली, और नुक्कड़ पर अकेली खड़ी नहीं होगी। तुम लड़की हो इसलिए ऐसे रहोगी, सारे बदन पर कपड़े होगें अन्यथा..।"[25]

दलित समाज में स्त्री का स्थान भारतीय मुख्य धारा से भिन्न रहा है। हिन्दू वर्ण व्यवस्था में सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से पुरुष सर्वोपरि और सर्वश्रेष्ठ माना गया है। जिससे एक सवर्ण जाति की स्त्री पूर्णतः पति की आय पर निर्भर, परतंत्र, दासी और अबला होकर जीवन व्यतीत करती है। इसके विपरीत दलित स्त्री पुरुष के हर कदम पर साथ होती है। दलित स्त्री आर्थिक दृष्टि से स्वावलंबी (कुछ हद तक) व सामाजिक दृष्टि से स्वतंत्र होती है। इससे दलित औरत न पुरुष की सनक की शिकार होती और न ही उसके पैरों की जूती बनकर रहती है। सामाजिक रुप से स्वाधीन दलित स्त्री गरीबी, विषमता व कठिन परिस्थितियों में हाड़ तोड़ श्रम करती है। इस संबंध में स्वातंत्रयोत्तर हिन्दी उपन्यास साहित्य में स्त्री–पुरुष संबंधों का कई आयामों से चित्रांकन हुआ है।

दलित समाज में स्त्री–पुरुष दोनों समान रुप से आर्थिक गतिविधियों में भाग लेते हैं। स्त्री हर कदम पर पुरुष के साथ शारीरिक श्रम करते हुए घर/परिवार की जिम्मेदारियों का वहन करती है। आर्थिक भागीदारी तथा घर में मालिकाना हक के बाद भी नारी के पास कुछ नहीं रहता है। कुछ जातियों में वह काम (नौकरी) पाने का माध्यम भी बनती है। नागर जी 'नाच्चो बहुत गोपाल' में काम पाने की कीमत का मार्मिक वर्णन किया है–

–'मैं हरगिज नहीं जाऊँगी इस कमीने के साथ, कोई धौंस है? वाह!

दूसरा पुरुष गरजा' जाना तो पड़ेगा ही हरामजादी चाहे हंस के जा चाहे रोके। मेरे पास पन्द्रह सौ रुपए नहीं है कि जमादार, दरोगा, और चीफ को चटाकर अपने लिए काम पा सकूँ।

---

[25] मनीषा– औरत और बाजार (लेख), राष्ट्रीय सहारा दैनिक, 18 मई 2002

'तो काम पाने के लिए अपनी औरत की इज्जत लुटाएगा, हरामजादे, तुझे शर्म नहीं आती?

'मजलूम और गरजमंद आदमी सब कुछ कर सकता है और तेरी इज्जत है ही कहाँ? कुतिया रण्डी और गरीब की जोरु की भला क्या इज्जत होती है?"[26]

यह चित्र है दलित वर्ग की निम्नतः जाति मेहतरों का आजीविका के लिए कीमत चुकाने का, जो बहुत बड़ी है। काम पाने के लिए जिसमें रिश्वत के साथ–साथ सतीत्व की भेंट भी सम्मिलित है। इसे भी ये लोग भाग्य और नियति मानकर स्वीकार कर लेते हैं। चूंकि सफाई के अतिरिक्त उनकी रोजी–रोटी का कोई अन्य साधन नहीं है इसलिए काम पाने के लिए कुछ भी कीमत स्वीकार लेते हैं। समाज के ठेकेदारों को इसमें अछूत नहीं होती। मेहतर समाज इतना पिछड़ा हुआ है कि उनका आचार–विचार और सोच भी वैसी ही हो गई है। समय और समाज की मार ने मेहतरों के लिए कैसी आचार–संहिताएं गढ़ दी हैं।"मेहतरानी खिलखिलाकर हंस पड़ी और कहा कैसी भोली हो तुम। बनना बिगड़ना तो उँचे कौमों में होता है। हमारा क्या हम तो बिगड़ी तकदीर लेके दुनिया में आए हैं जो रानी।"[27] विचित्र विडंबना यह है कि मेहतर जाति में पति–पत्नी दोनों कमाई करते हैं पर शोषण का चक्र ऐसा है कि उसमें नारी को सतीत्व और अस्मिता जैसी मान्यताएं भी भुलाने को विवश कर दिया है।

भारतीय समाज में अपनी मर्जी से विवाह (विशेषकर निम्न जातियों में) और वो भी अन्तर्राजातीय विवाह, सामाजिक मर्यादा के विपरीत माना जाता है। मोहन जब निर्गुणिया को साथ लेकर अपने घर पहुँचता है तो उसकी माँ द्वारा किया गया स्वागत इस प्रकार है–"इसे कहीं अलग ले जाकर रखो। मेरे घर में रण्डियों के लिए जगह नहीं।"[28] इस पर भी मोहना न विरादरी को और न उसे छोड़ना चाहता है। क्योंकि उसे पता है कि वह अपनी ही बिरादारी में इज्जत से रह सकता है। माँ से अपमानित होकर वह अपने मामा के घर जाता है– "चाहे कुछ भी हो जाय मैं नहीं रखूँगी निगोड़ी, रण्डी, छिनाल को अपने घर में।"[29] इस पर मोहन क्रिश्चियन बनने की धमकी देता है जिस पर माई खीजकर बोली " तुझे इसीलिए पाल पोस कर बड़ा किया था रे हरामी, हरजाई

---

[26] नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ. 21
[27] नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ. 27
[28] वहीं, पृ. 73
[29] वही, पृ. 78

की औलाद"।[30] अपनी बहिन के लिए नई बहू के सामने मामू को पत्नी की यह बात बुरी लगी। उसने उसे झिड़क दिया। इसपर मामी नहले पर दहला बनी "हाँ–हाँ तुम्हारी लाडली बहिन हरजाई नहीं तो और कौन होगी। जद्दू ठाकुर से पेट लेकर आई। इसके जन्मते ही कहा कि मार डालो हरामी को।"[31] पत्नी के सामने अपने जन्म हीनता का पुराना परिचय फिर से पाकर मोहना को लज्जा जनित क्रोध आया।

नागर जी ने भंगी समाज के आचार–विचार, बात–व्यवहार का सुन्दर चित्रण किया है। आम बोल चाल में गाली गलौज का प्रयोग उनकी पहचान और पिछड़ेपन को उजागर करता है। माँ–बाप, भाई–बहन, सभी संबंधों में गाली –गलौज होता रहता है। सास–बहू, पती–पत्नी के झगड़े आम बात है। बुल्लन चाची अपनी बहू से पिटने के बाद कहती है– "ये भला कोई पिटने की उमिर है मेरी! अल्ला मियॉ जो न दिखाएं सेा थोड़ा है"[32] चाची का लड़का भी अपनी पत्नी का पक्ष लेता है। वह अपनी अम्मा को खूब जली–कटी सुनाता है–"अब जो मेरे घर में पैर रखा तो झोंटे पकड़ कर बाहर निकाल दूंगा। चच्चा इस पर ताव खा गए। नब्बू को मारने के झपटे, उसने धक्का दे दिया, वो गिरे।"[33]

इसी तरह गोपाल उपाध्याय ने 'एक टुकड़ा इतिहास' में अन्तर्राजातिय विवाह के माध्यम से स्त्री –पुरुष संबंधो को चित्रित किया है। उपन्यास का नायक कांतिमणि (ब्राहमण) एक डूम जाति की कन्या चुनली से घर और समाज के विरोध के बावजूद प्रेम विवाह कर लेता है और उसका सामाजिक बहिष्कार कर दिया जाता है वह बहुत जल्दी टूट जाता है। जाति में सम्मिलित होने के लिए वह अपने बेटे और पत्नी का परित्याग करने को तैयार हो जाता है। वह हाथ जोड़कर पंचों से कहता है "जैसी पंचो की राय हो आप लोग अगर अब भी मुझे अपनाने को तैयार हैं तो मैं चुनली और रतन को छोड़ सकता हूँ"[34] वह उसके अस्तित्व को ही नकार देता है । गाँव के लोग उसके सामने चुनली को रस्सी से बाँधकर घसीटते हुए ले जाते हैं । लेकिन वह इसके विरोध में कुछ नहीं कहता । खून का रिश्ता भी इस अमानवीयता को पिघला नहीं पाता है । क्योंकि इससे भी बडा संबंध जाति का होता है । अन्तरजातीय विवाहों की परणति ऐसे ही घिनौने रूप में हो

---

[30] नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ. 78
[31] वही, पृ. 78
[32] नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ. 199
[33] वही, पृ. 202
[34] एक टुकडा इतिहास, पृ. 16

सकती (जब पुरूष उच्च और स्त्री निम्न) है। पुरूष अपनी जरूरत पूरी हो जाने पर जब चाहे उसे त्याग सकता हैं। चुनली के यह कहने पर कि रतन को क्या मैं कही से उठाकर ले आयी हूँ? यह क्या तुम्हारी औलाद नहीं है? मेरा क्या तुम पर कोई हक नहीं है ? तुम्हारी जमीन जायदाद पर भी नहीं? तो कांतिमणी कहता है "मैने कोई भाँवरे फेरे नहीं लिए है तेरे साथ ? रंडी – पातर के साथ कोई ब्राह्मण ठाकुर दो -- चार दस दिन सो जाय तो वह उसकी बीवी नहीं जो जाती ।"[35]

'धरती धन न अपना' में जगदीश चन्द्र ने चमारों के बीच स्त्री – पुरूष संबंधो का बखूबी परिचय कराया है । इनमें छोटी – छोटी बातों में आपसी लड़ाई गाली – गलौज इनके आम जीवन का हिस्सा लगता है। जब चौधरी जीतू को पीटते हुए ले आता है, तो बचाने की हिम्मत किसी में नहीं है बल्कि वे जीतू को ही गाली देने लगते हैं। प्रीतो कहती है – "रण्डी का पूत सौदागर का घोड़ा, जो करे सो ही थोड़ा। जीतू तो आग की नाल है । कहीं लगता है तो कहीं लगाता है ।"[36] घोड़ेवाह के चमार बिना मुँह खोले ही मार खाते है । ज्ञानो अपने भाई को गाली देती है तो उसकी माँ क्रुद्ध स्वर मे बोलती है "राँड घर चल गर्म चिमटे से तेरी जबान खीचती हूँ। इस पर बेवे हुकमा जस्सो को समझाते हुए कहते हैं –"मुटियार बेटी को राँड की गाली नहीं देनी चाहिए'। इनके अन्दर कोई लाज – शर्म नहीं हैं । ये संबंधों का भी लिहाज नहीं करते हैं। जो मन में आया बोल दिया । काली कें पक्का मकान बनवाने के संबंध में ज्ञानो के सुझाव पर चिढ़ते हुए प्रीतो कहती है – राँड सलाह तो ऐसे दे रही है जैसे काली के चौबारे में इसी का पलंग बिछेगा ।"[37] गावों में छोटी – छोटी बातों पर लड जाते हैं। अगर कोई बात भी नहीं हो तो बाबू साहब के कहने पर किसी से झगड़ा मोल लेलेगें । काली के नीवं खोदने पर यही हुआ – "प्रीतो तीखे स्वर में बाली मोए काली को नई जवानी आयी है क्या? हर एक को मारता फिरता है । फिर वह बाजू लहरते हुए बोली, मोए को प्लेग निकले, काला ताप चढ़े, दर – दर का भिखारी बने 'चाची भी भड़क उठी' प्लेग निकले तुझे, और तेरे घरवाले को और तेरे बच्चों की फौज को । रानों प्रीतो को समझाती हुई कहती है चाची मरदो का झगड़ा है तू बीच में क्यों दखल देती है ।"[38]

---

[35] एक टुकडा इतिहास, पृ. 507
[36] धरती धन न अपना, पृ. 14
[37] वही, पृ. 32
[38] वही, पृ. 53

"राँड मुझे समझाने वाली तू कौन है ? आई है उसके साथ हमदर्दी करने । शर्म होती तो भाई की मार को इतनी जल्दी नहीं भूलती ——— राँड याराने पाल रही है । उनकी तरफदारी तो ऐसे कर रही है जैसे मकान काली का नहीं, इसी का बन रहा है"[39]

इनके लिए इस तरह के झगड़े आम बात हैं। औरों के लिए झगड़े किसी मनोरजंन से कम नहीं होते हैं ।

गिरिराज किशोर के उपन्यास 'परिशिष्ट' और 'यथा प्रस्तावित' में स्त्री – पुरूष संबंधो के मार्मिक प्रसंग चित्रित हैं । बावनराम अपने बेटे अनुकूल को इन्जीनियरी पढ़ने के लिए दिल्ली भेजना चाहते हैं। पत्नी उदास हो जाती है और अपने पति को कोसती हुई कहती है – "दुनिया तो अपनी संतान को सहेजकर और सीने से लगाकर रखती है। ये बाप होकर घर से निकाले दे रहे हो।"[40] एक माँ और क्या सोच सकती है। वह अपने पुत्र को अपने से दूर नहीं होने देना चाहती।" माँ की स्थिति अजीब होती है वह समझ नहीं पा रही थी, सुखी या दुखी। दुखी होना उसकी भावनाओं के ज्यादा नजदीक था।.... बेटा तू ना जा तेरा मूँह देखकर ही तो दिन काट रही हूँ। बहुत बड़ा होकर भी आदमी बेगाना हो जाता है।"[41] भविष्य की अपने प्रति माँ की चिंता स्वाभाविक है। जो बावन राम अपनी पत्नी को समझाते थे। उनकी स्थिति स्वयं दयनीय हो गई। उन्हे पत्नी झिड़की के साथ समझाती हैं "यह तुम्हें क्या होता जा रहा है? तुम तो औरतों से भी बद्तर हो गए। बेटा इतना ही प्यारा था तेा भेजा क्यों? मैं तो पहले ही जानती थी कि अनुकूल के बिना घर भाड़ की तरह हमारे दाने से भूनेगा। लोग अपने बच्चे को लाम तक भेज देते है, हमने तो पढ़ने ही भेजा है।"[42] एक माँ और पिता के पुत्र के प्रति मानवीय भावनाओं की सहज अभिव्यक्ति का सुन्दर चित्रण है।

जहाँ बेटे को लेकर दोनों में इतना प्यार है वहीं अनुकूल के अपने रुम पार्टनर वाल्मीकि लड़के को रख लेने से कडुवाहट हो जाती है "क्या इसी दिन के लिए अनुकूल को पाल पोसकर बड़ा किया था कि वह आगत बिगाड़ दे? जनम करम मे थूक दिया बावन राम ने उसे रोका, चबर–चबर क्यों किए जा रही है? इस समय तू कौन कम बड़ी जातवाली बनी हुई हो।.... मैं बताए

---

[39] धरती धन न अपना, पृ. 53
[40] 'परिशिष्ट', पृ. 16
[41] वही, पृ. 93
[42] वही, पृ. 99

देती हूँ कि बिना शुद्धि के उसे घर में नहीं घुसने दूँगी.... चाहे प्राण ही क्यों न चले जायं।.... बावन राम बिगड़ गए। एकाएक आँखे बाहर आ गईं। पहली बार वे अपनी पत्नी की तरफ लपके।"[43] रिश्ते बहुत ही नाजुक होते हैं। कौन सी बात में दरार पड़ जाय? पता ही नहीं चलता।

स्त्री–पुरुष संबंधों का एक नया रुप इस तथ्य से मिलता है कि दलित सामाजिक कार्यों में मदद करने में जितने मर्द है, अपने अधिकार मांगने और अपनी बहु–बेटियों की इज्जत बचाने में उतने ही नामर्द है। रामदरश मिश्र ने अपने उपन्यास 'जल टूटता हुआ' में इसको चित्रित किया है। हरिजन कितने भी बड़े क्यों न हो जायें पर वे पुश्तैनी धंधे नहीं छोड़ पाते हैं। औरतों की अस्मत हमेशा खतरे में रहती है।" वह आज भी मजूरी करने पर ही मजबूर होती है, और मालिकों के गाँव में जिनकी अस्मत आज भी उसी तरह खतरे में होती है, जो आज भी मजूरे हैं, गाँवों के खेतों में या शहरों के कारखानों में।"[44]

अवैध संबंधों का ग्रामीण व शहरी परिवेश दोनों में प्रचलन है इसे सामाजिक दृष्टि से बहुत ही हेय माना जाता है इसके लिए कोई जाति, धर्म, समाज.... कुछ नहीं होता।.... 'घरती धन न अपना' के ज्ञानों–काली, 'नाच्यौ बहुत गोपल' में निर्गुणिया के प्रेम प्रसंग, 'एकटुकड़ा, इतिहास' के कांतिमणि–चुनली, 'जल–टूटता हुआ' का पार्वती–हंसिया या फिर 'मैला–ऑचल' का कमली–प्रशांत संबंध.... लगभग हर उपन्यास में अवैध संबंधों की गूँज मिल जायेगी। 'जलटूटता–हुआ' में दलित–सवर्ण अवैध संबंध दैहिक भूख पर आधारित होता है–"सवर्ण पात्र पार्वती अपनी दैहिक भूख के लिए हरिजन पात्र हंसिया से कई बार संसर्ग करती है। किन्तु एक बार पकड़ी जाने पर हंसिया पर अपने साथ जबरदस्ती करने का इल्जाम लगा देती है। फलतः उसे बुरी तरह मार पड़ती है। दूसरी ओर सवर्ण आए दिन हरिजनों की बहू–बेटियों की इज्जत से खेलते हैं किन्तु नामर्द हरिजन उस अन्याय को पचा जाते है।"[45] अगर कोई दलित स्त्री किसी सवर्ण के संसंर्ग में आए जाए तो उसकी और भी दुर्गति होती है। वह न तो अपने ही वर्ग की रहती है और न ही दूसरे की हो पाती है।

---

[43] 'परिशिष्ट', पृ. 102
[44] जल टूटता हुआ, पृ. 222
[45] वही, पृ. 233

स्त्री–पुरुष संबंधों का एक अन्य रुप रांगेराघव के उपन्यास 'कबतक पुकारुँ' में मिलता हैं–"यौन स्वच्छन्दता करनटों के लिए मर्यादा है। अन्य जातियों के विपरीत मर्यादा....। प्यारी कहती है.... देख मैं भंगिन, चमारिन नहीं जो मरद की गुलाम बन कर रहूँ। मैं तो खेलूँगी। पर मेरा मन तो तेरा है। जिस दिन मन तुझसे हट जायेगा, मैं तुझे छोड़कर चली जाऊँगी।"[46] नटों में स्त्री–पुरुष दोनों ही कमातें हैं– स्त्री, पुरुष से कुछ अधिक इसलिए स्वतंत्र भी अधिक है।

भारतीय समाज में नारी के लिए जीवन वृत्त का केन्द्र पति अथवा परिवार होता है। घर के मुखिया व पति का आदेश पालन में ही उसका जीवन समाप्त हो जाता है। नारी के स्वतंत्र व्यक्तित्व की कोई सार्थकता नहीं रहती। आज युग बदल रहा है–नारी आर्थिक स्वाधीनता, समानता, अत्याचारों के खिलाफ संघर्ष, वैवाहिक और पारिवारिक स्वतंत्रता के लिए संघर्षरत है। लेकिन इसके बावजूद समाज का प्रभुत्व जारी है। उसके लिए प्रमाण पत्र समाज ही देता है। डा. पुरुषोत्तम अग्रवाल के शब्दों में इसको बखूबी समझा जा सकता है। उनके अनुसार "स्त्री की पवित्रता तो ऐसी चीज है। जिसे तय करने और जाँचने का काम सामाजिक सत्ता को है। उस सत्ता को जो स्त्री को देवी कहकर छलता है और उसके शरीर, मन और व्यक्तित्व पर उसका कोई अधिकार स्वीकार नहीं करता।"[47] नारी के चित्रण के संबंध में लेखकीय पूर्वाग्रह भी हावी रहता है। वे यौन शोषण बड़े चटखारे लेकर करते हैं इस संबंध में मृदुला गर्ग की टिप्पणी उपयुक्त है–"जैसे ही चित्रण पुरुष से हटकर नारी पर आता है। वह उसका परिवेश, काम, पेशा, सब भूल जाते हैं, और याद रहता है केवल यौन–उत्पीड़न और यौन–शोषणं"।[48]

3. धार्मिक अन्धविश्वास व मान्यताएं

आरम्भ में धर्म की स्थापना मानव ने अपनी आत्म शुद्धि व आत्म विकास के लिए की होगी। लेकिन आगे चलकर उसने इसका उपयोग अपने स्वार्थों के लिए करना आरम्भ कर दिया। हमारी समाज व्यवस्था का विकास जिस स्तर पर हुआ है उसके मूल में धर्म है। आज धर्म ने इन्सान को इस हद तक पंगु और अमानवीय या पशु बना दिया है कि वह अमानवीयता की सारी सीमाएं तोड़ चुका है। गुजरात के दंगों में इसका विभत्स और भयानक चित्र देखा जा सकता है–"

---

[46] क़ब तक पुकारुँ, पृ. 51
[47] डा. पुरुषोत्तम अग्रवाल– संस्कृति, वर्चस्व और प्रतिरोध, पृ. 49
[48] जगदीश चतुर्वेदी– स्त्री साहित्य विमर्श, पृ. 189

एक महिला के गर्भ में आठ महिने का बच्चा था। दंगाइयों की एक भीड़ ने उस महिला का पेट चीरकर गर्भाशय से बच्चे को निकाला और काटकर फेंक दिया.... एक मकान में भरा पूरा परिवार (उन्नीस सदस्य) रहता था। दंगाइयों ने पहले मकान को पानी से भरा और फिर उसमें अत्याधिक वोल्टेज की बिजली दौड़कर उस परिवार के उन्नीस लोगों को मार डाला"।[49] आज आदमी धर्म का दास बन कर रह गया है। अब धर्म इंसान के लिए नहीं बल्कि इंसान धर्म के लिए हो गया है। धर्म की आड़ में धर्म के ठेकेदारों ने सदैव इंसानियत का गला घोंटा है।

इतिहास के आईने में देखें तो धर्म का वीभत्स रुप दिखाई पड़ता है। इसने जातिवाद और छुआ–छूत के नाम पर एक वर्ग को प्रकृत्ति पदत्त अधिकारों से भी वंचित कर दिया। अमानवीयता का वीभत्स रुप इस कदर बढ़ा कि मनुष्य की छाया से भी परहेज किया जाने लगा। अछूत जिस रास्ते पर चलते थे उस पर अन्य नहीं चलते थे। यहां तक कि अछूत कमर में झाड़ू बांधकर चलता था। इतना ही नहीं जिसके बल पर सवर्ण समाज अपना महल खड़ा किया उन्हें ही शस्त्र, शिक्षा, धर्म, धन, व्यापार तथा जमीन के उपयोग से वंचित कर दिया। दूसरा रुप देवी–देवताओं का है। दुनिया में हिन्दू देवी–देवता ही सबसे ज्यादा हथियार बंद क्यों है? किसी एक हाथ में भले कलम हो, दूसरे में वे हथियारों के बड़े–बड़े जखीरों के मालिक से क्यों प्रतीत होते हैं? इतने युद्धोन्माद के बावजूद ये दुनिया के किस देश के मुकाबले में भारत से 'पाप' कम कर पाए और भक्तों को सामाजिक न्याय मिल पाया? वस्तुतः यह अपने ही भाइयों पर आतंक पैदा करने के लिए अपने पौराणिक समुदाय के देवताओं को इतने व्यापक पैमाने पर हथियार बंद किया।

कोई भी समाज जब प्रारम्भिक अवस्था में होता है तो उसमें धार्मिक अंधविश्वास और मान्यताएँ, उतनी ही अधिक होती है। विकास क्रम में ज्ञान–विज्ञान के बढ़ने के साथ–साथ दूर होती जाती है। लेकिन भारतीय समाज 21वी. सदी में प्रवेश कर चुकने के बाद भी पुरानी मान्यताओं को त्याग नहीं सका है। यह बात विशेषतः दलितों पर अधिक लागू होती है। क्योंकि उनमें अशिक्षा का साम्राज्य व्याप्त है। दूसरी ओर हर चैनल पर एक न एक धार्मिक, पौराणिक धारावाहिक जारी है। हिन्दू समाज की एक सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि वह हर चीज–कुत्ते, बिल्ली, पेड़–पौधे... आदि को आस्था का विषय बना देता है। जहां आस्था व भक्ति होगी वहां तर्क की गुंजाइश ही नहीं बचती। इससे यहाँ के सभी धर्मों, जातियों और वर्गों के लोग प्रभावित हुए।

---

[49] हस्तक्षेप (राष्ट्रीय सहारा)– 23 मार्च 2002; धर्मांधता का बहशीपन,

तभी तो बिहार के भूकम्प को गाँधी के अवैज्ञानिक चिंतन ने हरिजनों के अत्याचार का फल तथा (2001) गुजरात के भूकम्प को एक राजनेता ने ईसाईयों पर अत्याचार का परिणाम बताया। हिन्दू समाज में इसलिए विज्ञान का जन्म नहीं हो सका। हम तो छीकों से डरने वाले लोग हैं। बिल्ली रास्ता काट जाय और हम बैठ जायेगें। एक बड़ा इंजीनियर अपनी शानदार कोठी में काली हांडी लटकाना नहीं भूलता है। हम तो विचार और तर्क को तिलांजाति दे चुके हैं। हम तो सबकुछ वेद में खोजते हैं। ये हमारे पढ़े–लिखे तथाकथित सभ्य समाज की तस्वीर है तो अनपढ़ दलितों का क्या हो सकता है।

दलित समाज अशिक्षा के कारण आज भी धार्मिक अंधविश्वासों और मान्यताओं के मध्यकालीन युग में जी रहा है। भूत–प्रेत, जादू–टोना, आत्माओं में विश्वास की भावना कूट–कूट कर भरी है। उनके लिए निर्जीव वस्तुएं, पेड़–पौधे जानवर यहां तक कि मरे हुए आदमी की आत्माएं भी पूजा के योग्य हैं। जो उनके दिलो–दिमाग पर छाई हुई हैं। प्रकृति में घटने वाली साधरण घटनाओं को भी रहस्यमय तरीके से कहा व सुना जाता है। इतना ही नहीं जीवन के हर मोड़ पर होने वाली घटनाओं को भी किसी अदृश्य शक्ति के चमत्कार के रुप में प्रस्तुत किया जाता है। इन लोगों के लिए मानो जिंदगी के हर उतार–चढ़ाव किसी न किसी अदृश्य शक्ति या देवी–देवाताओं से जुड़े होते हैं। प्राकृतिक रुप से फैलने वाली बीमारी– हैजा, चेचक और इस तरह की अनेक कष्टदायक विपदाओं का कारण भी उसी में खोजते हैं। इन बीमारियों से बचने के लिए अदृश्य जगत की इन अस्थिर मायावीय शक्तियों, प्रेत और सभी रोगों के देवी–देवताओं को प्रसन्न रखने के लिए अधिष्ठाता देवताओं, मृतकों तथा अन्य दिवंगत आत्माओं का स्मरण करते हैं।

भारत में पत्थर पूजा सार्वभौमिक है। दलित अपने घरों में पत्थर गाड़ कर पूजा करते हैं उसे 'देवकुर' कहा जाता है। यह उनके गृह देवता होते है। देवकुर पर प्रतिदिन पर दीपक जलाया जाता है। परिवार के एक सदस्य का गृह देवता के प्रति विशेष लगाव रहता है। "वे पीपल, नीम, बड़गद आदि की पूजा करते हैं क्योंकि उनका विश्वास है कि इन पर आत्माएं रहती है। पीपल को घर के आस–पास नहीं लगाया जाता है। क्योंकि इसे भूत–प्रेत का वासं स्थान माना जाता है। नीम के पेड़ का संबंध शीतलमाता (चेचक की देवी) से है।" आज भी गाँवों में चेचक को 'मातामाई' नाम से जाना जाता है। चेचक के समय घर में हल्दी, तेल, साबुन, का प्रयोग वर्जित हो जाता है।

भूत–प्रेत में इनका घोर विश्वास है। जब भी घर का कोई सदस्य बीमार पड़ता है, सबसे पहले ओझा ही आता है। उनका विश्वास है कि जिनकी मृत्यु आकस्मिक होती है। वे भूत बन जाते है। तालाब में जो डूबकर मरते हैं, वे 'बुडुवा' कहलाते हैं। इन सबसे छुटकारा पाने के लिए ओझा बकरी, सुअर, मुर्गा, अंडे, शराब, केला का फूल, जैफर आदि की बलि चढ़ाता है। अधिकतर भूत–प्रेत दयादी (परिवार के वे सदस्य जो अलग हो गए हों) या फिर अड़ोसी–पड़ोसी के होते हैं और एक–दूसरे पर वे हांकते रहते हैं। एक खास बात यह कि अधिकांश का दावा होता है। कि वे भूत– चुड़ैल देखे हैं। चुड़ैल का वर्णन इस प्रकार किया जाता है "इसके स्तन लटके हुए, काफी बड़े, दांत बाहर निकले हुए, मोटे–मोटे होंठ, बिखरे, हुए बाल, उसकी जिह्वा काली तथा पैर उल्टे होते हैं।"[50] इसी प्रकार 'मैला आंचल' के बालदेव भूत का वर्णन इस प्रकार करते हैं "भैंस के पीछे–पीछे तंबाकू–खैनी मांगता है भूत! डाकिन का पॉव उल्टा होता है और वह पेड़ की डाल से लटकर झूलती है। कमला के किनारे, कोट्टी के जंगल के पास में रात को जो भक्क से राकस जल उठता है, दौड़ता है और देखते ही देखते एक से दस हो जाता है।"[51] ऐसी स्थिति में वे अपने बच्चों को उस तरफ जाने नहीं देते जहां पर भूत–प्रेत का निवास होता है तथा इन मनगढ़ंत कहानियों से अपने बच्चों को डरा देते हैं।

समाज में भूत–प्रेत का इतना विश्वास है कि हर बीमारी का इलाज ओझा करने में सक्षम होता है। डाक्टरों पर विश्वास नहीं होता है। 'परिशिष्ट' के रामउजागर की बीमारी को उसके घर वाले भूत–प्रेत या किसी आत्मा की छाया या पित्तरो से जोड़ देते हैं–"चलते हुए उसका जी धक्क धक्क करता है तो हवा का असर है, पर शहर के अंग्रेजी डाक्टर का इलाज चल रहा है।"[52] ऐसा लगता है कि उसके घर वाले डाक्टर की दवा करके कोई अपराध कर रहे हैं। क्योंकि उनका विश्वास है कि उसे भूत पकड़ा है। उसकी बहन भूत छुड़ाने के उपाय की ओर संकेत करती हुई कहती है" गाँव से दो कोस पश्चिम एक बाबा का ताकिया बा। ऊ बाबा भूत–परेतन को बांधकर खड़ाऊँ से पारित है।"[53] घर की औरतों का विश्वास है कि उस पर शहर की औरतें कोई टोटका कर दीं हैं–"का ठीक बा.... कहीं जाने तुम लोगन कोई टोटका कर दिहिस...।"[54] पित्तर भी

---

[50] ब्लूमून बुक्स,– चमार, पृ. 108
[51] मैला आँचल, पृ. 105
[52] परिशिष्ट, पृ. 198
[53] वही, पृ. 201
[54] वही, पृ. 204

कभी–कभी नाराज हो जाते हैं। बहन बोली "पित्तर ही तो पीछे लगे बा...।"[55] बीमारी एक, कारण अनेक।

जगदीश चन्द ने 'घरती धन न अपना' में चमादड़ी में प्रचालित अंधविश्वास को चित्रित किया है। काली की चाची बीमार है, वह जीतू से कहता है" देख चाची की शक्ल कितनी भयानक हो गई है। उस पर जीतू बोला" क्यों इतना घबरा रहे हो भूत निकला है, कमजोरी तो होगी ही। भूत निकलने के बाद कई लोग तो छः छः महीने खाट से नहीं उठते हैं।[56] व्यवस्था पर कोई प्रश्न चिन्ह लगाए तो पंडित संत राम कहते हैं" तू अनहोनी बातें करता है, भगवान ने सब जीवों को उनके कर्मों के अनुसार जन्म दिया है।"[57] समाज की विशेषता यह रही है कि अच्छे कर्म करने वालों को अमानवीय घोषित कर दिया, और उसे जन्म से जोड़कर हमेशा के लिए पक्का कर दिया।

फणीश्वरनाथ रेणु ने 'मैला आँचल' मे गांव में प्रचलित अंधविश्वासों और मान्यताओं की सच्ची तस्वीर खींची है। अब जोतखी जी को ही लिजिए। उनका विश्वास है कि "डाक्टर लोग ही रोग फैलाते हैं। सुई भोंकर देह में जहर दे देते हैं। आदमी हमेशा के लिए कमजोर हो जाता है। हैजा के समय कूओं में दवा डाल देते हैं, गाँव का गाँव है जा से समाप्त हो जाता है। काला बुखार का नाम पहले लोगों ने कभी नहीं सुना था? पूरब मुलुक कामरु कमिच्छा हासाम से कालबुखार वालों का लहू शीशी में बंद करके यही लोग ले आए थे। आज कल घर–घर कालाबुखार फैल गया है.... इसके अलावा विषैली दवा में गाय का खून मिला रहता है।"[58] जोतखी जी कहते हैं गाँव के ग्रह अच्छे नहीं हैं, गाँव में अब चील–कौआ उड़ेगें। जोतखी जी अपने जाल में पूरे गांव को फांस रखे हैं। इनके चक्कर में आदमी अपनी समझ–बूझ खो दिया है। हीरु का लड़का बुखार से मर जाता, फिर भी जोतखी जी विश्वास दिलाते हैं कि वह वापस आ सकता है–

'इतना जल्दी! कल कौन दिन था? सोमवार! सोम को मरा है न ? हाँ ठीक सूरज डूबने के समय। 'करसामाँ है। डाइन का करसामाँ। समझे हीरु! शुक्रवार को आमावस्या है जिसपर तुमको संदेह हो उसके पिछवाड़े बैठे रहना। ठीक दो पहर रात को वह निकलेगी। उसका पीछा

---

[55] परिशिष्ट, पृ. 206
[56] धरती धन न अपना, पृ. 87
[57] धरती धन न अपना,, पृ.101
[58] मैला आँचल, पृ. 18

करना। वह तुम्हारे बच्चे को जिलाकर तेल–फुलेल लगाकर, गोदी में लेकर जब नाचने लगगें तो... उस समय यदि उससे बच्चा छीन लो तो फिर उस बच्चे को कोई मार ही नहीं सकता।... इंद्र का वज्र भी फूल हो जायेगा।[59]

गाँवों में एक धारणा यह भी है कि यदि एक ही परिवार में कई मौतें एक–एक करके हो जाती हैं और घर में कोई महिला जीवित रह जाती है तो उसे 'डाइन' घोषित कर दिया जाता है। लोगों का विश्वास होता है कि वह अपने घरवालों को खाकर फिर गाँव के अन्य लोगों को खायेगी। मैला आँचल' में पार्वती की माँ इसी तरह की डाइन है। गाँव की कोई भी अनहोनी घटना उससे जोड़ दी जाती है। डा. प्रशान्त के यहां सर्प निकलता है। उसे भी डाइन का कारनामा मान लिया जाता है –"डाक्टर बाबू को इतना समझाया बुझाया कि पार्वती की माँ से इतना हेल–मेल नहीं बढ़ावें। नहीं माने, अब समझें। वह राच्छसनी किसी को छोड़गी? जिसको प्यार किया, उसको जरुर खायेगी। डाक्टर बेचारा भी क्या करे। वह अपने मन से तो कुछ नहीं करता। उस पर तो पारवती की माँ जादू कर दिया है वह अपने बस में नहीं। मुफ्त में बेचारे की जान चली जयेगी एक दिन। चः चः ।"[60] डाक्टर प्रशांत गाँव वालों के इस विश्वास को तोड़ने का प्रयास करता है और पार्वती की माँ तथा उसके नाती गनेश से खूब घुल–मिलकर रहता है।

इसी तरह रेणु जी के उपन्यास 'परती परिकथा' में लोगों का विश्वास था कि "ताड़ के वृक्ष पर निवास करने वाला तथा धरती पर राज करने वाला ब्रह्मपिशाच अपना धन शरद चाँदनी में परती के चकों में फैलाकर सुखाता है।"[61] लेकिन शिवेन्द्र राय ने परती के पांचो कुण्डों पर अधिकार कर उक्त जन धारणा को निर्मूल सिद्ध किया। ब्रह्मपिशाच के कोप का कोई विस्फोट नहीं हुआ। इसके विपरीत सारी परती भूमि के स्वामी शिवेन्द्र राय के पुत्र जितेन्द्र राय हुए और परती उपजाऊ भूमि बन गई। यह स्वतंत्रता के बाद बदली हुई मानसिकता को चित्रित करता है।

'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' की भांति अन्य आँचलिक उपन्यासों– 'कब तक पुकारुँ', 'जल टूटता हुआ', 'सूखता हुआ तालाब', 'अलग–अलग वैतरणी', 'सती मैया का चौरा', आदि में समाज में प्रचलित धार्मिक अंधविश्वासों और मान्यताओं का उल्लेख बखूबी हुआ है। परन्तु

---

[59] मैला आँचल, पृ. 246
[60] मैला आँचल, पृ. 105
[61] परती परिकथा, पृ. 146

स्वातंत्रयोत्तर हिन्दी उपन्यासों (दलितों केन्द्रित उपन्यास) में लेखकों का ध्यान इस ओर कम ही गया है। उनका ध्यान अधिकांशतः धार्मिक पाखण्ड और दलित समाज की नियति बन चुके रीति–रिवाज तक ही सीमित है। यही स्थिति कमोबेस दलित उपन्यासकारों में भी मिलती है। दलित अपने कार्यों को पूर्व जन्मों का फल मानकर स्वीकार कर लेते हैं। 'नाच्यौ बहुत गोपाल' में मोहन का मामू कहता है– 'चौरासी लाख योनियों में पाप भोगते–भोगते तो भगवान ने हमें मनुष्य जन्म दिया। बड़े भाग मनुष्य तन पायो। पर हमारे पापों ने उस भाग को भी अभागा बना दिया। तिस पर भी हम ऐसे अगियानी हैं कि पुराने जलम के पापों पर इस नीच जतम के पाप बढ़ातें चले जाते हैंगे।"[62] अगर कोई भूलना चाहता है तो 'एक टुकड़ा इतिहास' के बाबा प्रयागगिरी जैसे धार्मिक ठेकेदार याद दिलाते है "चुनली तू नीच कुल मे जन्मी है। चुनली यह तेरे पूर्व जन्मों का अपराध है।"[63] नई पीढ़ी पर पुरानी पीढ़ी का दबाव भी है। 'परिशिष्ट' में अनुकूल को बावनराम समझा रहे हैं "हम तो कोई ऐसी ऊँची जात के नहीं हैं कि पांव छूने से शान में कोई बट्टा आता हो। हमारा तो धर्म ही सेवा बताया गया है। अब चूंकि धर्म से थोड़ा भटकते जा रहे हैं, इसलिए परेशानियां पैदा होने लगीं..... हम तो सौ बात की एक बात जानते है...भगवान ने किसी को बड़ा बना दिया तो बना दिया। उसे छोटा करना हमारे हाथ नहीं है।"[64] दलित समाज में सेवा धर्म ऐसा घर कर गया है कि नई पीढ़ी को भी दीक्षित कर देते हैं। बावन राम कहते हैं "जन्म धरे का दण्ड हैं हम नहीं भोगेगें तो कौन भोगेगा। हम यह बात एक मिनट नहीं भूले कि भगवान ने हमें नीच बनाया है।"[65] उनको अपने बेटे में ब्राह्मणवादी गुण दिखाई देता। तभी तो कहते है "हिन्दू होकर हमारे घर में जन्म लेने का पाप जो भोगना पड़ रहा है बेचारे को।"[66] इस पर उनकी पत्नी कहती है।" धरम को क्यों लांछन लगाते हो? वही तो पार लगायेगा... हिन्दू धर्म की महिमा गाँधी जी तक ने गयी है"[67]

धार्मिक पाखण्डों का चित्रण स्वातंत्रयोत्तर दलित केन्द्रित उपन्यासों में मिलता है। धार्मिक महंतों, पुजारियों का आलम यह है कि सब तरह के अन्याय, अत्याचार व अमानवीय व्यवहार के बावजूद वे भगवान के रुप में बने रहते हैं। नागर जी ने निर्गुनियां से कहलवाया है कि "पण्डित

---

62 नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ. 115
63 एक टुकड़ा इतिहास, पृ. 79
64 परिशिष्ट, पृ. 29
65 वही, पृ. 70
66 वही, ,पृ. 161
67 वही, पृ. 161

जी, राजा, ब्राह्मण और देवता का नाम मुख से लेना पाप है", [68] अगर दलित कुछ गलत करे (ब्राह्मण/महंतो की नजर में) तो उन्हें पाप–पुण्य का हवाला देकर रोक दिया जाता है लेकिन स्वयं उसे आपात धर्म मानकर शुभ घोषित कर देते हैं। मोहन द्वारा दिए गए पैसे को लेते हुए स्वामी जी ने कहा "हे शुभ –मुखी धर्म के हेतु अधर्म के द्वारा कमाया हुआ धन भी वैसे ही पवित्र होता है जैसे नदी में मिलकर नाला पवित्र हो जाता है।"[69] लेकिन धर्मालय (मंदिर) में कोई अछूत चला जाता है तो वह अपवित्र हो जाता है। चुनली समाज और धर्म के ठेकेदारों द्वारा वेघर कर दिए जाने के बाद गाँव के मंदिर में शरण लेती है तो बाबा प्रयागगिरी की पहली चिंता यह है कि मंदिर अपवित्र न हो जाय वे पूछते हैं–

'तू यहां मंदिर के पास क्या कर रही है? मंदिर में तो नही गई?

'मैं आज रात के लिए शिवजी से शरण लेने आयी हूँ धर्मशाले के कमरे में बच्चे के साथ पड़ी रहूँगी।'

'भई मंदिर का मामला है– हाँलाकि धर्मशाले में तुम रह सकती हो अगर सुबह किसी से पानी मंगवाकर धो देना। छूत हो जाती है न?[70]

'मेरी आज्ञा से धर्मशाले के कमरे से जरुर रही है। अभी धो देगी। धर्मशाले के कमरे में क्या छूत? धो देगी, मैं गो–मूत्र छिड़क दूंगा।"[71]

हमारे समाज की अजीब विडम्बना यह है कि हमारे मंदिर, देवालय, धर्मशालाएं दलितों के प्रवेश से अपवित्र हो जाते हैं। परन्तु उसे जानवरों के मलमूत्र से पवित्र कर दिया जाता है। 21वीं. सदी में प्रवेश कर चुकने के बाद भी इस मानसिकता में बदलाव नहीं आया है। आज भी अधिकांश धर्मशालाओं में प्रवेश देने से पहले जाति पूछी जाती है। बच्चे के प्रति समाज में भी भेद–भाव बना हुआ है। अगर किसी ब्राह्मण से यह पूछा जाय कि बच्चे का धर्म और जाति क्या होती है? तो उस पर एक आदर्शवादी लम्बा–चौड़ा भाषण दे देगा। परन्तु जब उसी के पास या कुटी या मंदिर में चला जाय तो क्या प्रतिक्रिया होगी? सुन्दर निदेर्शन 'एक टुकड़ा इतिहास' में मिलता है।"

---

[68] नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ. 54
[69] एक टुकड़ा इतिहास, पृ. 224
[70] एक टुकड़ा इतिहास, पृ. 63
[71] वही, पृ. 64

"चुनली का पुत्र रतन भूख से तड़प रहा था। वह बाबा को रोटी सेंकते देख कुटी में उनके चौके में पहुँच गया! इस पर बाबा चिल्लाते हुए कहते हैं" अरे–अरे वो पाजी कहां चला आ रहा है, रे बदमाश मुझे भी इस मंदिर से निकलवा देगा क्या?"[72] इसका उत्तर प्रयागगिरी के इस कथन में मिलता है –"दोष उस में यह है कि वह डूम की औलाद है तुम ब्राह्मण की औलाद हो । मनुष्य चेहरे और विचार – आचार से नहीं पहचाना जाता, देखा जाता है कि उसकी रंगो में किसका खून है? इसके संस्कार कैसे है?"[73] अर्थात मनुष्य होना महत्वपूर्ण नहीं है ।

अंत में हम दलितों द्वारा लिखित उपन्यासों में धार्मिक अंधविश्वास और मान्यताओं की चर्चा करेंगे और यह देखने का प्रयास करेंगे कि उनकी दृष्टि क्या रही है? दलितों द्वारा लिखित उपन्यासों में जयप्रकाश कर्दम का 'छप्पर' और सत्य प्रकाश का 'जस तस भई सबेर' काफी चर्चित रहे । 'छप्पर' का नायक चंदन अपने संघर्ष भरे जीवन के बावजूद अपने लोगों के प्रति अपने कर्त्तव्य को नहीं भूलता है । वह झुग्गी में रह रहे दलितों को अंबडेकर के मूलमंत्र – शिक्षित हो, संगठित हो और संघर्ष करो', का महत्व बताता है । प्रथमतः वह शिक्षा पर जोर देता हैं । इससे उनकी समझ और तर्क शक्ति का विकास होगा तभी अधंविश्वासों से मुक्ति संभव है । जब झुग्गीवासी मानसून लाने के लिए यज्ञ करने की योजना बना रहे होते है तो चन्दन उसका कड़ा विरोध करता है । लोगों को समझता है कि यह मात्र अधंविश्वास है और कुछ नहीं । लोगों को आश्चर्य होता है कि चन्दन पढ़ा – लिखा होकर इस तरह की उल्टी – सीधी बात करता है । पर चन्दन अपना धैर्य नहीं खोता । उन्हे तर्क पूर्ण ढ़ग से समझाता है कि "तुम लोग यह मानते है कि ईश्वर सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी है और सब कुछ उसकी इच्छा और आदेश से होता है। हाँ – हाँ बिल्कुल मानते हैं। लोगों ने फिर एक स्वर में सहमति जताई तो इसका मतलब यह हुआ कि तुम्हारी आज जो दीन – हीन हालत है, जो तुम रोजी – रोटी के लिए दूसरों के मोहताज रहते हो और तुमको नीच, अछूत या हेय मानकर दूसरे लोग जो तुमसे घृणा और उपेक्षा का व्यवहार करते हैं, तुम जो शोषण और अपमान के शिकार हो, मन सबका कारण ईश्वर है । वही तुम्हारी दुर्दशा कर रहा है।"[74] चन्दन लोगों की तरफ देखकर फिर कहता है " यदि आप की बात सब मान ली जाय कि ईश्वर है तो आप ही देखिए कि वह कितना अन्यायी और निर्दयी है । तुम लोग

---

[72] एक टुकड़ा इतिहास, पृ. 76
[73] वही, पृ. 71
[74] जयप्रकाश कर्दम– छप्पर, पृ. 22

जिस ईश्वर को मानते हो, उसकी पूजा – अर्चना करते हो, उसको प्रसन्न करने के लिए भेंट चढ़ाते हो तब भी तुम पर उसे दया नहीं आती है और तुमको पशुवत और नारकियजीवन जीने को बाध्य करता है । तब तुम ही सोचो ऐसे ईश्वर को क्यों माना जाय? जो ईश्वर तुम्हारा भला नहीं करता, बल्कि बुरा कराता है उसको मानने का कोई औचित्य नहीं है।"[75] अंततः चन्दन की बात से लोग प्रभावित होते हैं । उपन्यास का यह बहुत ही महत्वपूर्ण प्रसंग है जो आज के दलित युवाओं के मन से जुड़ा हुआ है ।

सत्यप्रकाश के उपन्यास 'जस तस भई सवरे' की चर्चा हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। हंसा मंगल पहलवान का लड़का है , सरवन उसका बड़ा भाई है । हंसा अनपढ़ है तो सरवन थोड़ा पढ़ा लिखा और चेतना संपन्न है हंसा धर्मभीरू किस्म का व्यक्ति है, पत्नी सुनहरी और भी आगे । ये ईश्वर से डरने वाले लोग हैं जइ –टोना, टोटका, भूत – प्रेत में पूर्ण विश्वास है । उनका यह विश्वास तब टुटता है जब वे अपना सब कुछ लुटा देते हैं । भूत – प्रेत के जाल में फांसकर हंसा की पत्नी सुनहरी की भगत और जमींदार मिलकर इज्जत लूट लेते हैं। हंसा भगत की सुनकर दंग रह जाता है। भगत कहता है " असल बात तो तुम भी जानते हो कि ये देवता वगैरह कुछ भी नहीं है भैया – – – – सब खाती पड़े, बिना कमाए मौज मारने का तरीका है । शैतान – वैतान को मैं नहीं जानता । किसी भूत – प्रेत, जिन – विन को नहीं जानता । न मैं यह जानता हूँ कि ये हैं भी या नहीं, और किसमें अर्थात देवता और शैतान में किसकी शक्ति अधिक है, हाँ मैं यह निश्चित देवता रूप से जानता हूँ कि इनके छलावे और इनके डर में बड़ी शक्ति है । लोगों का अज्ञान, अधंविश्वास और देवता एवं शैतान का छलावा ही हमारी ताकता है ।"[76] हंसा को यर्थाथ का ज्ञान हुआ और वह आसमान से जमीन पर आ जाता है। फिर सारा परिवार एक होकर इन ठेकेदारों से लड़ता है और प्रकाश का अभिनंदन करते हुए नए सवेरे की शुरूआत करते हैं ।

इस प्रकार हमें दानों लेखकों (दलित और गैर दलित) की दृष्टियों में एक स्पष्ट रेखा नजर आती है। जहाँ दलित लेखकों की एप्रोच क्रांतिकारी है वही गैर दलित लेखक दलित नियति को ही चित्रित करके पल्ला झाड़ लेते हैं। इनकी दृष्टियों का प्रभाव उनके पात्रों में दिखाई देता

---

[75] जयप्रकाश कर्दम– छप्पर, पृ. 23

[76] सत्य प्रकाश – 'जस तस भई सबेर', पृ. 114

है। अगर 'परिशिष्ट' का राजउजागर, 'धरती धन न अपना' का काली,.....अपनी ऊर्जा खो देते हैं वही चंदन और सरवन हर कदम पर लड़ते नजर आते हैं। गैर दलित लेखकों की सबसे बड़ी कमी यह रही है कि वे गाँधीवाद को ही आदर्श मान लेते हैं। डा. अंबेडकर उन्हें लेसमात्र भी प्रभावित नहीं करते। क्या यह लेखकों का पूर्वाग्रह है? हमारी सबसे बड़ी कमजोरी यह रही है कि हम अपने पूर्वाग्रह त्याग नही पाते। इसलिए हम लेखकीय न्याय नहीं कर पाते हैं । हमारे लिए मानवीय अधिकारों की कोई अहमियत नहीं है । गाँधी और डा. अबेडकर की दृष्टि में यही अतंर था । दोनों ने मंदिर प्रवेश तथा तालाब आंदोलन चलाया। परन्तु डा. अंबेडकर के लिए मंदिर प्रवेश और तालाब का उपयोग मनुष्य होने के नाते दलितों का भी अधिकार है । वे पूजा – पाठ के लिए संघर्ष नहीं कर रहे थे, जैसा कि गाँधी जी के आन्दोलन में था। प्रेमचन्द से लेकर आज तक के गैर दलित लेखक दलित समस्याओं को गाँधी की दृष्टि से ही चित्रित करते चले आ रहे है । ऐसे में दलित लेखकों की उपस्थित उनको सोचने के लिए एक न एक दिन अवश्य मजबूर कर देगी ।

दलित समाज के लिए यह दुर्भाग्यपूर्ण रहा कि जिस दलित समाज ने सामाजिक क्रांति के सूर्य कबीर, रैदास फुले और डा. अंबेडकर जैसे मानवतावादी विद्वानों को जन्म दिया, उसी दलित समाज में आज पूजा – पाठ की होड़ लगी है । वे विभिन्न, पंथ, संप्रदाय में प्रवेश पाकर अपने को उच्च बनाने का प्रयास कर रहे हैं और गौरवान्वित हो रहे हैं। वे हिन्दू संस्कृति एवं सामाजिक व्यवस्था को सुदृढ कर रहे हैं । आज दलित अपने को आर्यसमाजी, कबीर पंथी, निरंकारी, राधास्वामी ––– यहां तक कि पक्का वैष्णवा बनाने में लगे हैं। वह वैष्णवा देवी जाता है, जागरण करता है, रामलीलाएं करवाता है । धार्मिक अनुष्ठान श्रेष्ठता के प्रतीक बनते जा रहे हैं। मंदिर प्रवेश और मंदिर बनाकर उसका पुजारी बनने की दलितों में होड़ लगी है। यदि सवर्णों के मंदिर में प्रवेश नहीं मिलता तो स्वयं वाल्मीकि, राम, कृष्ण, रविदास ––– आदि के मंदिर बनवाता है और पूजा – पाठ में लीप्त होता है । इसी को ध्यान में रखकर डा. अंबडेकर ने कहा या – "अस्पृश्यों को वेद नहीं चाहिए, गीता नहीं चाहिए, उन्हें तो बस अंबेडकर चाहिए।"[77]

अतंतः 21वीं सदी में प्रवेश कर चुके भारत के संदर्भ में यह बात विचरणीय है कि विज्ञान डर तो सहजता से मिटा सकता है पर विश्वास की जड़ें उखाड़ नहीं सकता । डर या भय से भी अधिक कठोर संस्कारगत विश्वास है। विज्ञान – प्रौघोगिकी का ज्ञान अधंविश्वास के लौह तंत्र एवं

---

[77] रमणिका गुप्ता (सं) – दलित चेतना सोच, पृ. 14

ब्राह्मणवादी ज्ञान – विज्ञान के आचार – विचार के आगे चूहा साबित हुआ है क्योंकि जनता के मन में समानांतर विश्वास खड़ा नहीं किया जा सका – न विज्ञान कर सका और न ही लोकतत्रं । यह कहा जा सकता है कि समाज में अधंविश्वास मजबूत नहीं हुआ बल्कि विज्ञान और लोकतंत्र ने ही अपना विश्वास खो दिया ।

अध्याय – पाँच

स्वातंत्रयोतर हिन्दी उपन्यास : दलित आत्म चेतना और सौन्दर्यशास्त्र

वर्णव्यवस्था के अमानवीय बंधनों ने शताब्दियों से दलितों में हीन भाव को पुख्ता किया है। धर्म और संस्कृति की आड़ में साहित्य में भी इस भावना की नीव सुदृढ की । लेकिन समय–समय पर नीवं खोदने का कार्य बखूबी जारी रहा है। आदि विद्रोही शंबूक से लेकर डा अम्बेडकर तक इनके लिए प्रेरणा स्रोत रहे हैं। दलित साहित्य ने अपने उदय के समय से बौद्धिक वर्ण को नई दृष्टि से सोचने पर मजबूर किया। दलित साहित्यकारों ने पारम्परिक सौन्दर्यशास्त्र (को अपनी सोच और अपनी स्थापनाओं में दलित विरोधी है,) को नकार कर नए सौन्दर्यशास्त्र के निर्माण की बात कर रहे हैं। इससे परम्परा के प्रति नया दृष्टिकोण तथा मिथकों की नवीन व्याख्या समाज के सामने आयी। दलित साहित्यकारों ने कविता, कहानी, उपन्यास, आत्मकथा, नाटक आदि विधाओं को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। ओमप्रकाश वाल्मीकि के शब्दों में "दलित चिंतन के नए आयाम का यह विस्तार साहित्य की मूल भावना का ही विस्तार है जो पारम्परिक और स्थापित साहित्य को आत्मविश्लेषण के लिए बाध्य करता है और झूठी तथा अतार्किक मान्यताओं का विरोध, अपने पूर्व साहित्यकारों के प्रति आस्थावान रहकर नहीं, बल्कि आलोचनात्मक दृष्टि रखकर दलित साहित्यकारों ने नई जददोजहद शुरू की है, जिससे जड़ता टूटी है और साहित्य आधुनिकता और समकालीनता की ओर अग्रसर हुआ है।"[1]

1. <u>दलित कथा साहित्य :</u>

हिन्दी में पहली कहानी कब और किसने लिखी, इस पर विवाद हो सकता है, लेकिन यह निर्विवाद है कि कहानी का जन्म मनुष्य के जन्म के साथ ही हुआ है। कहानी सुनने की परम्परा उतनी ही पुरानी है, जितनी की मनुष्य के जैविकीय विकास की कथा। 20वी. सदी हिन्दी कथा के विकास का युग है। इसी समय दलितों का विद्रोह भी धीरे–धीरे सुलगता हुआ सामाजिक धरातल तक आ पहुँचा । एक तो स्वतंत्रता आन्दोलन के क्षितिज पर गाँधी का आगमन हो चुका था, जिन्होंने पहली बार समझा था कि यह लड़ाई किसी एक वर्ग या जाति के लड़ने से नही जीती जा

---

[1] ओमप्रकाश वाल्मीकि – दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, आवरण

सकती। अतः सभी धर्मों, जातियों और वर्गों का आह्वान किया। दूसरी ओर अपनी विस्फोटक विद्रोही चेतना लेकर डा. अम्बेडकर भी भारत के राजनितिक फलक पर अवतरित हुए। जो केवल भारत की आजादी ही नहीं चाहते थे, बल्कि अछूतों की हिन्दू धर्म से मुक्ति भी चाहते थे। अंबेडकर कहीं अपने मिशन में सफल न हो जायं, अतः गॉधी जी ने कांग्रेस के अन्दर ही अछूतोद्धार कार्यक्रम प्रारम्भ कर दिया। जिसके कारण एक प्रकार की गाँधीवादी सहानुभूति देखने को मिलती है – खास तौर पर प्रेमचन्द, निराला और यशपाल की कहानियों में । 1936 के आस–पास हिन्दी साहित्य में प्रगतिशील विचारधारा का प्रवेश हुआ जिसके कारण शोषित स्त्री और मजदूरों के प्रति सहानुभूति प्रकट करती हुई रचनाएं लिखी गई।

हिन्दी कथा साहित्य में प्रेमचन्द का पदार्पण एक अभूतपूर्व घटना है। प. बनारसीदास चतुर्वेदी ने लिखा है कि प्रेमचंद अपने समय के एक मात्र ऐसे साहित्यकार थे, जिनके कारण हिन्दी साहित्य देश की सीमाएं लाघंकर विदेश तक पहुँचा' उन्होने पहली बार आदर्णीय समाज (हिन्दू) में नरक भोगते दलित को अपने कथा साहित्य का विषय बनाया, उनकी सम्पूर्ण यातनाओं के साथ। प्रेमचन्द की कहानियों में शूद्रों और सवर्णों की सभी प्रकार की मानसिक और सामाजिक स्थितियों का चित्रण हुआ है। 'ठाकुर का कुआँ ' उनकी दलित चेतना की सर्वोत्कृष्ट कहानी है। इस कहानी का मूल स्वर यह है कि इंसान होने की हैसियत से जीने के लिए हरिजन का प्रकृति प्रदत्त वस्तुओं पर अधिकार नहीं है। स्वच्छ हवा और पानी जिस पर किसी भी व्यक्ति का निजी स्वामित्व नहीं होता, उसे भी वह अपनी मर्जी से नहीं पा सकता। समाज में अलग–अलग जातियों के अलग–अलग कुएं हैं किन्तु हरिजनों को छोड़कर सवर्णो के कुएँ से शेष सभी पानी निकाल सकते हैं। 'ठाकुर का कुआँ' में प्रेमचन्द ने गंगी का विद्रोही तेवर दिखाया है जो दलितों की उभरती हुई चेतना को सामने लाती है। यह कहानी हिन्दू समाज में दलित जीवन के अतंविरोधों एव अतंर्सम्बंधो को बड़ी सहजता से अभिव्यक्त करती है। प्रेमचन्द ने सामाजिक रूढ़िवाद और अधंविश्वासों को केन्द्र में रखकर – 'सदगति', 'घासवाली', 'मंदिर', दूध का दाम ..... आदि कहानियां लिखी।

प्रेमचन्दोत्तर कहानी विशेषकर नई कहानी मूलतः मध्य वर्गीय नगरीय जीवन के यथार्थ से जुड़ी रही है। इस कहानी का संसार मानव–मानव के बनते–बिगड़ते संबंधो और उनके बदलते मूल्यों की तलाश, परम्पराबोध और आधुनिकता की टकराहट, सामाजिक – राजनीतिक गतिविधियों से उत्पन्न मानवीय विकृतियों को भोगे हुए यथार्थ के धरातल पर चित्रित किया। इतना होते हुए भी

दलित इन कथाकरों द्वारा नजरअंदाज कर दिया गया। सातवें दशक की कहानी में भी दलित चेतना को उभारने का प्रयास नहीं किया गया। हिन्दी कथा साहित्य में दलित चेतना की अभिव्यक्ति की दृष्टि से आठंवा दशक महत्ववपूर्ण है।

प्रेमचन्द से लेकर नई कहानी और परवर्ती कहानी तक एक ही सूत्र दलित लेखन से जुड़ा हुआ है – वह यर्थाथ और प्रमाणिक अनुभव का सूत्र। दलित लेखन की तीखी सामाजिक दृष्टि मौजूदा इतिहास का संशोधन नहीं करती, बल्कि खुद एक नए इतिहास का सूत्रपात कर रही है। दलित लेखन की यह दृष्टि सदियों के इतिहास से उत्तर भी नहीं मांगती, वह प्रतिवाद की तथाकथित सहनशीलता और संयम की नपुंसकता से आहत और त्रस्त है। इसलिए वह सम्यक परिवर्तन की शक्ति और ऊर्जा से प्लावित है।

हिन्दी साहित्य में दलित पृष्ठभूमि पर कितने ही उपन्यास लिखे गए और कहानियां भी, लेकिन पहली बार दलित चेतना का प्रश्न प्रेमचन्द के संदर्भ में उठा। इससे हिन्दी हल्कों में एक अच्छा–खासा तूफान आ गया। संभवतः जब तक दलित चेतना मराठी आदि अन्य भाषाओं में अभिव्यक्त हो रही थी, ठीक थी। लेकिन जब हिन्दी में अभिव्यक्ति पाने लगी तो हिन्दी साहित्य में भूचाल आ गया। कमलेश्वर ने 'सारिका' के और डा. महीप सिह ने 'संचेतना' के दलित विशेषांक प्रकाशित किए – प्रशंसा भाव, आक्रमण भाव में बदल गया।

हिन्दी के दलित कथाकारों के पास मराठी कथा साहित्य की एक सुदृढ पृष्ठभूमि तो है ही, उसे और अधिक पुख्ता किया हिन्दी के अदलित कथाकरों के दलित चेतना संपन्न कथा साहित्य ने। परन्तु अब हिन्दी में दलित कथाकारों की एक पूरी पीढ़ी सक्रिय है। जिनकी कहानियां पिछले एक दशक से समकालीन भारतीय साहित्य तथा पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही और व्यापक पाठक समुदाय का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। 1996 में श्रीमती रमणिका गुप्ता के संपादन में 'दूसरी दुनिया का यथार्थ'[2] नाम से दलित कहानियों का प्रथम संग्रह प्रकाशित हुआ, जिसमें दलित होने के कारण उत्पीड़न की पीड़ा व्यक्त करते हुए करते उन स्थितियों के खिलाफ विद्रोह एंव आक्रोश व्यक्त हुआ है। साथ ही साथ जाति विहीन समाज बनाने का आह्वान भी है। इसमें मोहनदास नैमिशराय, ओमप्रकाश वाल्मीकि, जयप्रकाश कर्दम, सूरजपाल चौहान, कुसुम वियोगी,

---

[2] रमणिका गुप्ता (सं.)– दूसरी दुनिया का यर्थाथ, नव लेखन प्रकाशन हजारीवाद 1996

सुशीला टांकभोरे , दयानन्द बटरोही, रमणिका गुप्ता, प्रेम कपाड़िया आदि 29 लेखकों की कहांनियां संग्रहित है।

इस कथा संकलन की कहानियों को वकालत और सहानुभूति की जरूरत नहीं है। यह कहानियाँ सदियों के संताप की कहानियां हैं । यह 'पच्चीस चौका डेढ सौ' को 'पच्चीस चौका सौ बनाने वाली कहानियाँ है। दूसरे शब्दों में दूसरी दुनिया का यथार्थ उनका यथार्थ है जो मनुष्य योनि नही बल्कि पशु योनि के काबिल या बदतर समझे जाते हैं। इस संग्रह की कहानियां समाजिक बदलाव लाने का आहवान करती कहानियां हैं। "इन कहानियों में आक्रोश है, आग है, लावा है, गुस्सा है, तो साथ साथ संवदेना, मानवीयता और सब्र भी है। न्याय की उत्कट लालसा है, समानता की तीव्र ललक है, भाई चारे की भावना हो तो आदर पाने की इच्छा भी बलवती है।[3]

'दूसरी दुनिया के यर्थाथ' की कहानियां सदियों के खिलाफ आवाज ही नहीं उठाती बल्कि कुछ सवाल भी करती हैं। एक गौरवशाली संमृद्ध कही जाने वाली संस्कृति की शोषण परक, एकपक्षीय, अल्पसंख्यक वर्ग की सुख सुविधाओं के लिए एक विशाल जनसमूह को 'दास ' से निम्न, पशुवत जीवन में सुखी महसूस करवाने वाली षडयन्त्रकारी आचार संहिता को न मानने , उसे बेनकाब कर , समानता, भाईचारे और आजादी की नई संहिता बनाने की, अपने को मनुष्य मानने की, शिक्षित संगठित कर सामाजिक न्याय और बदलाव का झण्डा बुलन्द करने की ओर बढ़ती ये कहानियाँ है ।

एक विशाल जन समूह को जड़, असंवदेनशील बना दिया गया–जीवन की जरूरतों और जीवन के प्रति भी। वह दूसरे जन्म की–पिछले और अगले जन्म की ही सोच रहा है। सदियों से इस जन्म को तो वह प्रायश्चित मानकर जीता है। उसकी वेदना, पीड़ा, उसके साथ किए गये अमानवीय बर्बर व्यवहार–सबके प्रति सदियों से वह असंवेदनशील रहा और नियति मानकर सहता रहा। प्रेमचन्द का धीसू–माधव बना दिया गया उसे। रमाणिका गुप्ता ने 'कफन' के घीसू माधव पर टिप्पणी करते हुए लिखा है "प्रेंमचन्द की जगह यदि कोई लेखक 'कफन' की कथा लिखता तो संभवतः वह उस समाज की कुरता चित्रित करता जिसने घीसू माधव को वैसा जड़ और संवेदन शून्य बनाया, जैसा कि प्रेमचन्द ने दर्शाया है। तब उसकी ध्वनि यह होती यह हिन्दू समाज की

---

[3] जय प्रकाश कर्दम (सं.)– दलित साहित्य वार्षिकी– 2000, पृ. 179

व्यवस्था का शिकंजा ही ऐसा है जिसने मनुष्य को मनुष्य नहीं रहने दिया।[4] अर्थात दलित लेखक की कलम धीसू और माधव को मुक्ति चेतना से लैस करती या कम से कम पाठक को उसका अहसास कराती ।

संग्रह की इन कहानियों में धीसू –माधव अब वे नही रहे बल्कि पूरी एक जमात के रूप में उठ खड़ा हुआ है। सदियों से चली आ रही 'बहु जुठाई' की प्रथा हो या कर्ज से ठगने की पुश्तैनी साजिश या जमींदार अथवा पुलिस का जुल्म – वह अब घीसू – माधव की तरह 'कफन' बेचकर दारू नहीं पी जाता बल्कि वह इन सबके खिलाफ खड़ा हो जाता है।

इस संबंध में 'दूसरी दुनिया का यथार्थ' में संग्रहित कहानियों की चर्चा आवश्यक हो जाती है । संग्रह की प्रथम कहानी दलित कथा साहित्य के सशक्त हस्ताक्षर ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'पच्चीस चौका डेढ़ सौ ' कहानी है। इसमें लेखक ने बड़ी सहजता से शिक्षा को शोषण से मुक्ति का साधन बताया है। सुदीप जो बचपन से पच्चीस चौका डेढ सौ सुनता आया थ, अपने पिता से। पढ़ – लिखकर वह अपने पिता को समझाने में कामयाब हो जाता है कि पच्चीस चौका डेढ़ सौ नहीं होते है। तब सदियों का विश्वास टूटकर कहता है "तेरे कीड़े पड़ेंगे चौधरी, कोई पानी देने वाला भी नहीं बचेगा।" सुदीप के पिता का यह आक्रोश ही मुक्ति का वह रास्ता है जो दलितों को शिक्षा की ओर ले लायेगा ।

मोहनदास नैमिशराय की कहानी 'अपना गॉव' जमीदारी शोषण को मार्मिक ढंग चित्रित करती हुई दलित चेतना को जागृत करती है। इस शोषण के खिलाफ दूसरी दुनिया का बूढ़ा यर्थाथ भी उठ खड़ा होता है – झूठ से मुकाबला करने के लिए। अस्सी बरस का हरिया अपनी बहू कबूतरी को जमींदार पुत्र द्वारा नग्न घूमाए जाने से सन्न तो हो जाता है लेकिन पथराता नहीं है। बेटे को शहर से बुलाता है। लोगों को थाने भेजा जाता है। पुलिस का जुल्म भाई और बेटे पर होते देखता है , फिर भी हारता नहीं । बिरादरी की पंचायत बैठती है, औरतें भी शामिल है उनकी बियरबानी (औरतों) को भी वैसे ही नंगा करके धूमाएं, इस प्रस्ताव को हरिया रोक देता है। हमारी और उनकी औरतें क्या अलग है ? विवेक नहीं गंवाता हरिया। हरिया अस्सी बरस की उम्र में 'नया गाँव' बसाने का दम रखता है। आधी रात बीत गई थी । चारों ओर अंधेरा ही अंधेरा था । पर

---

[4] जय प्रकाश कर्दम (सं.)– दलित साहित्य वार्षिकी– 2000, पृ. 179

हरिया का फैसला सून पंचायत से उठे लोगों के भीतर अन्यास ही जैसे उजाला हो गया था– – – एक अस्सी साल के बूढ़े ने उन सबको संधर्ष की राह दिखलाई थी । वही बूढ़ा जो अस्सी साल से सारी परम्पराओं को किसी न किसी रूप में मानता रहा था। आज अचानक उसके बूढ़े जिस्म में विद्रोह की भाषा उभर आयी थी।[5]

जयप्रकाश कर्दम की कहानी 'चमार' में सुक्खा को बेटे की पढ़ाने के जुर्म में गॉव के सवर्ण उसका सामाजिक बहिष्कार कर देते हैं, पर सुक्खा हारता नहीं है। उसका स्वाभिमान जाग चुका है। वह अपने बेटे को शिक्षा किसी भी शर्त पर देने को तैयार है, "वह भूखा प्राण तज देने को तैयार है पर बेटे को नरक देने को नहीं।"[6] क्योंकि शिक्षा ही अपने और अपने समाज को जागृत का सकती है।

इस संकलन में कुछ महिला साहित्यकारों की कहानियां भी संकलित है। उनमें कावेरी की 'समंगली' , सुशीला टांकभोरे की 'सिलिया' , रत्नकुमार सांभरिया की 'शर्त' आदि में महिलाओं के शोषण को शिद्वत के साथ उनकी समग्र चेतना के साथ चित्रित किया गया है । रमणिका गुप्ता की कहानी 'बहु जुठाई' में सदियों से चली आ रही अमानवीय परम्परा के विरोध में जब कुछ युवक खड़े होते हैं तो गाँव के ही नहीं आस–पास के गॉव के लोग भी संगठित हो जाते हैं और 'बहू–जुठाई' की परम्पररा टूट जाती है। जैसा कि नाम से पता चल जाता है कि जब भी गॉव में कोई बहू आती थी तो सबसे पहले उसे जमींदार भोग करते थे।

दलित कथा साहित्य की जो छिट–पुट परम्परा पत्र – पत्रिकाओं में चल रही थी अब उसे अपना मार्ग मिल गया है। 'हंस ' (सं. राजेन्द्र यादव) ने उसे एक मंच दिया। नवें दशक में अनेक कथा संकलन प्रकाश में आए। डॉ. एन. सिंह द्वारा संपादित कहानी संग्रह 'यातना की परछाइयॉ', डा. कुसुम वियोगी का 'समकालीन दलित कहानियॉ', मोहनदास नैमिशराय का 'आवाजें', सूरजपाल चौहान का 'हैरी कब आएगा', दयानन्द बठरोही का 'सुरंग', सुशीला टांकभोरे का' टूटता वहम', रमणिका गुप्ता का ' बहू–जुठाई', प्रहलाद चन्द का 'पुटुस के फूल' और ओमप्रकाश वाल्मीकि का 'सलाम' आदि कहानी संग्रहों ने नवें दशक में दलित कहानी की यात्रा का एक अहम पड़ाव पार

---

5 मोहनदास नैमिशराय– अपना गाँव (दूसरी दुनिया का यर्थाथ), पृ. 83
6 मोहनदास नैमिशराय– अपना गाँव (दूसरी दुनिया का यर्थाथ), पृ. 52

किया है। इन कथा संग्रहों में संकलित कहानियां दलित जीवन की किसी न किसी समस्या को संपूर्णता में चित्रित करती हैं।

डॉ. भीम राव अंबेडकर का जीवन दर्शन और उनकी दृष्टि दलित साहित्य और दलित आंदोलन का प्रेरणा स्रोत है। इसलिए दलित लेखन के पीछे कोरा बौद्धिक विलास तथा काल्पनिक सुख नहीं है, बल्कि उसकी पृष्ठभूमि दलित होने का अहसास भरा हुआ है। उनकी पीड़ा यातनाओं का ऐसा संसार है जिसके लिए दलित लेखक को जद्दोज़हद करनी पड़ती है। मोहनदास ने 'आवाजें' संग्रह में दलित होने के अहसास और पीड़ा की सृजनात्मक प्रकिया को अभिव्यक्त करते हुए लिखा है मैं भीतर –बाहर अंगारा बना दहकता रहा। मेरे शब्द जैसे तपकर बाहर आते रहे।[7] इसलिए इस संग्रह की कहानियां (कुल तेरह) आम आदमी से जुड़ाव की कहानियां है। कमलेश सचदेव ने इसे दहकता हुआ अंगारा कहा है। 'वे आगे कहते हैं' दलितों की पीड़ा को व्यक्त कर देना मात्र इन कहानियों का लक्ष्य नहीं है बल्कि उनके भीतर सुलगता आक्रोश धीरे–धीरे विरोध में बदलता दिखाने के प्रति भी मोहनदास नैमिशराय सतर्क रहे हैं।[8] वे इस संग्रह में अपने आस–पास के परिवेश से कथ्य लेकर निजी अनुभवों के आधार पर दलित समाज की नई पीढ़ी में हो रहे बदलाव की चेतना को रेखांकित करने की ईमानदार कोशिश की है। 'आवाजें' की नई पीढ़ी जातिय चेतना से भरकर उद्धोषणा करती है कि वे ऊँची जातियों के जूठन नही लेगें, न ही खाएंगें और न ही गन्दगी साफ करेंगे। इस प्रकार नई पौध की आंखो में परिवर्तन के लिए अटूट विश्वास था । कल तक जो बच्चे जूठन पर लड़ते–झगड़ते थे, अब उनके मन में कुछ कर गुजरने की चेतना जन्म ले चुकी है।

गाँवों में अगर दलितों का सामाजिक, आर्थिक शोषण, उत्पीड़न अधिक होता है तो शहरों में मानसिक स्तर या छुआ–छूत का दंश झेलना पड़ता है। पढे–लिखे दलित को भी शहरों में किराये पर कोई मकान देने से पहले उनकी जात पूछता है। सवर्णो के अधिकांश मकानों में जातियता के कैक्टस उगे होते हैं। 'हारे हुए लोग' कहानी में इस चुभन का दर्द पाठक को झकझोर देता है।[9] "नया पड़ोसी" कहानी में एक दलित की आंतरिक पीड़ा का उसकी मानसिक

---

[7] मोहनदास नैमिशराय– अवाजें (क. सं.)

[8] ओम प्रकाश वाल्मीकि – दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृ 113

[9] अजी हमे क्या मतलब, आप कलटटर भी हैं। नौकरी करने से अपकी की जात तो नही बदल जाती । रहता तो वही है।

व्यथा का बड़ा अच्छा मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। 'घायल शहर की एक बस्ती' में साम्प्रदायिकता का विकृत रूप है तो 'गंजा पेड' में दलितों की बस्ती की जीवन की व्यथा–कथा कही गई है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि एक ऐसे दलित कथाकार हैं जिनकी कहानियां पिछले दो दशकों से निरन्तर पत्र–पत्रिकाओं में छपती रही हैं। उनका कहानी संग्रह ' सलाम ' प्रकाशित हो चुका है। इस संग्रह की प्रमुख कहानियाँ है– सपना , पच्चीस चौका डेढ सौ ' , बैल की खाल, सलाम, ग्रहण अदि । उनकी कहानियां एक ऐसा वातावरण रचती हैं जिसमें बहुत ही सूक्ष्मता से दलित उत्पीड़न की मानसिक, शारीरिक सामाजिक या आर्थिक स्थितियां खुलकर सामने आ जाती हैं। 'सपना' उनकी एक ऐसी कहानी है जिसका नायक गौतम फैक्ट्री के पास पड़ी जमीन पर मंदिर बनाने के लिए कुछ लोगो के कहने पर तन–मन से चन्दा एकत्र करता है। लेकिन जब मंदिर में मूर्ति की प्राण प्रतिष्ठा का समारोह होता है तो उस पण्डाल में गौतम के परिवार को आगे की पंक्ति में बैठा देखकर सवर्ण समाज सहन नहीं कर पाता है और उठाने का प्रयत्न किया जाता है परन्तु वह उठने को तैयार नहीं है। अंततः यह बताया जाता है कि ये गौतम एस. सी. है' । नटराजन ने आखिरी चाल चल दी। ' तो इससे क्या फर्क पड़ता है ..... श्री नटराजन जी' .....। ऋषि ने व्यंग से कहा। क्या फर्क पड़ता है ... पूजा अनुष्ठानों में उन्हें आगे नहीं बैठाया जा सकता है यह रीति हैं शास्त्रों की मान्यता है'। तो यह बात है कि नटराजन यह ज्ञान आपको आज ही प्राप्त हुआ है कि गौतम एस.सी. है। जब यह दिन रात अपना खून –पसीना बह रहा था इस मंदिर को खड़ा करने में, तब आप नहीं जानते थे कि वह एस.सी है। तब आप ने क्यों नहीं कहा कि जो एस. सी. है वह मंदिर के काम में हाथ न बंटाए । इसके चुने –गारे में अपने जिस्म का पसीना न मिलाएं । क्यों नही एलान किया कि जो ईंट किसी एस. सी. न बनाई है, पकाई है – – – चढ़ाई/उतारी है, वे ईंट इस मंदिर में नहीं लगेगी । उस वक्त भी तो सोचना चाहिए था – ।[10] इस विरोध से मार–पीट की नौबत आ जाती है और ऋषि राज तथा गौतम को अंशाति फैलाने के आरोप में गिरफ्तार कर लिया जाता है। लेकिन यह कहानी दलित के लिए एक संदेश छोड़ जाती है। गौतम के इस कथन के रूप में कि ' चलो भाई हम लोग धर चलते है। ऐसे अनुष्ठानों मे बैठकर क्या होगा जहां आदमी को आदमी की तरह न समझा जाय[11]

---

[10] ओमप्रकाश वाल्मीकि – समना (सलाम – संग्रह) , पृ . 11
[11] वही , पृ . 13

जात–पात की भावना से ऊपर उठकर यदि कोई व्यक्ति मैत्री भाव स्थापित करना चाहता है तो वर्ण व्यवस्था की जड़े तनी गहरी है कि उसे ही संदेह की दृष्टि से देखा जाने लगता है। 'सलाम' कहानी का कमल उपाध्याय जब हरीश की बारात में शामिल होता है तो गांव की एक दुकान पर उसे इसलिए चाय नहीं मिलती, क्योंकि उसे चूहड़ा समझ लिया जाता है जबकि वह कहता है कि वह ब्राह्माण है। लेकिन कोई उसकी बात पर विश्वास नहीं करता। बाभन है तो क्या, चूहड़ो की बारात में क्या मूत पीने आया है... यानि एक ब्राह्मण का दलितों के साथ उठना–बैठना, संबंध रखना सामाजिक अपराध है।

वाल्मीकि जी की 'शवयात्रा' कहानी दलितों लेखकों में सर्वाधिक चर्चित और विवादास्पद रही है। उन्होंने इस कहानी में दलित और दलित के अंतर्विरोध को चित्रित किया है। इसमें अछूतों में अछूत बलाहार जाति का कल्लन ही चमारों का सबसे बड़ा दुश्मन है। यही समाज का अन्तर्विरोध है। यह दलितों की एकजुटता में सबसे बड़ी बाधा है। लेखक इसको दूर करने की प्रेरणा देता है जिससे अमानवीय व्यवस्था के शोषण को समाप्त किया जा सके।

प्रमुख दलित साहित्यकार डा. एन.सिंह के सम्पादकत्व में 'यातना की परछाइयाँ' कहानी संग्रह प्रकाशित हुआ। इसमें नौ दलित लेखकों की कहानियां संकलित हैं जो दलित जीवन के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालती हैं। प्रेमशंकर की कहानी 'बित्ते भर जमीन , आत्मबोध की कथा है। दलितों में एक आम कहावत प्रचलित है कि 'चमार का चूल्हा तो टोकरी में ही रहता है। उसकी न जमीन होती है न धन और न ही सम्मान। इस पर अपने सम्मान को जागृत करते हुए कहता है "चाचा माँ कसम खा के कह रहा हूँ रामू को कुछ हो गया तो गांव भर फूँक दूँगा। हमें छोटी जाति के समझ लिए तो क्या ताकत में भी छोटे ही समझ लिए।"[12] बी.एल. नायर की कहानी 'चतुरी चमार की चाट' सरकार और हिन्दू समाज की उन समस्त घोषणाओं को बेनकाब करती है, जिनमें बताया गया है कि अब भारत में किसी प्रकार की कोई छुआछूत नहीं है। तो प्रेमकपाड़िया की कहानी 'हरिजन' भारत के मंदिर में अभी भी जारी देवदासियों की समस्या को उठाती है। कुसुम मेघवाल की कहानी' समय के शिलालेख' में प्रशासन की सर्वोच्च कुर्सी पर बैठे दलितों के प्रति सवर्ण मानसिकता को उजागर करती है।

---

[12] डा. एन. सिंह – याहना की परछाइयाँ, पृ. 20

'पुटुस के फूल' प्रहलाद चंद की बारह कहानियों का संग्रह है। निरे कठोर एवं खुरदरे धरातल पर सृजित इन कहानियों का खुरदरापन हमारे अंतस्थल पर गहरी और टीसती लकीरें उके रता चला जाता है। इसमें लेखक ने दलित चेतना के विकास को दिखाया है कि किस प्रकार सदियों से तिरष्कृत और शोषित उत्पीड़ित लोगों में अपने अधिकारों के प्रति सचेत होकर आत्मसम्मान से जीने की ललक पैदा हो गई और हो रही है। इसका सशक्त उदाहरण इस संग्रह की कहानी 'लटकी हुई शर्त' है।

दलित चेतना के विकास में महत्वपूर्ण योगदान देने वाले जाने–माने सोलह दलित कहानीकारों की कहानियों का संग्रह 'समकालीन दलित कहानियां नाम से डॉ. कुसुम वियोगी ने संपादित किया। दलित जीवन और परिवेश पर गैर दलितों ने भी काफी कहानियॉ लिखी हैं परंतु उनकी कहानियां मात्र संवेदनात्मक सहानुभूति बटोरकर रह गई है। इस संबंध में वे लिखते है" दलित साहित्यकारों की कहानियाँ सीधे–सीधे उनके परिवेश और संस्कारों से जुड़ी 'अभिव्यक्ति' प्रकट करती हैं... क्योंकि दलित साहित्य कथा आन्दोलन का अपना सामाजिक सरोकारों से जुड़ा एक सुदृढ़ आधार है।[13] "जबकि गैर दलित साहित्यकार पाखण्ड का सनातनी दुशाला ओढ़े होते हैं जिसकी वजह से उनके काव्य और कर्म में कहीं भी तालमेल नजर नहीं आता। उस संग्रह की सभी कहानियां स्वानुभूति की कहानियां है जो दलितों के निजी अनुभवों को सृजनात्मक स्तर पर पहुंचाती है। मोहनदास नैमिशराय की 'महाशूद्र' कहानी समाज के उस अन्तर्विरोध की ओर पाठकों का ध्यान खींचता है जहां ब्राह्मण भी अपनी जाति से जातिगत भेदभाव को बड़ी शिद्दत के साथ महसूस करता है। शमशान के ब्राहमणों को दूसरे ब्राह्मण अपने दरवाजे के बाहर रखते हैं। ऐसे ब्राह्मण की सूरत देखना भी अपशकुन होता है। अछूत होने की पीड़ा तो अछूत सदियों से झेलते आए है, जब एक शमशान का ब्राह्मण झेलता है तो कह उठता है " हमें कहा जाता है महाब्राह्मण... पर उसका कार्य जानते हो नंदू महाशूद्र।[14] "इस कहानी की आलोचना सहानुभूति और स्वानुभूति के मूल प्रश्न को लेकर कुछ आलोचकों ने की। इस संबंध में इतना ही कहा जा सकता है कि एक अछूत–दूसरे अछूत की पीड़ा को समझ सकता है चाहे वह महाशूद्र की पीड़ा ही क्यों न हो?

---

[13] कुसुम वियोगी (सं) – समकालीन दलित कहानियां, पृ. 24
[14] वही, पृ. 24

आजादी के इन पचास सालों में भारतीय समाज के चरित्रों में मूलभूत परिवर्तन आया। सामाजिक परिवर्तन की इस प्रक्रिया में जहां जात–पांत के बंधन ढीले हुए, वहीं दूसरी ओर परम्परावादी जड़ संस्कारों वाले लोगों में जातिवादी घेराबंदी सुदृढ़ हुई है। रत्नकुमार सांभरिया में 'फुलवा' कहानी में 'फुलवा', पण्डिताइन और जमीदार रामेश्वर इन तीनों चरित्रों की मानसिक बुनावट में आए बदलाव और ठहराव को विभिन्न स्थितियों के माध्यम से दिखाने की कोशिश की है। इसी तरह सूरज पाल चौहान सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हुए 'परिवर्तन की बात' में दिखाते हैं कि गांवों में दलित जातियां अपने परम्परागत पेशे छोड़ रही है। दूसरी तरफ राजनीतिक और सामाजिक स्तर पर ब्राह्मण और राजपूत के बीच गठबंधन और मजबूत हुआ है जिसने दलित जातियों में सामाजिक स्तर पर एकता कायम किया। उसकी बानगी अपने पूरे परिवेश के साथ विपिन बिहारी की कहानी 'आमने–सामने' में देखने को मिलती है।

सूरजपाल चौहान का कहानी संग्रह 'हैरी कब आएगा' (2000) में प्रकाशित हुआ। इसमें सामाजिक न्याय और परिवर्तन का सशक्त विचार मिलता है। इसकी भूमिका में जयप्रकाश कर्दम ने लिखा है'' दूसरे दलित कथाकारों की तरह सूरजपाल चौहान भी न अंर्तमन की गुत्थियों को उलझाते–सुलझाते हैं, न मिथकीय दुनियां में जीते हैं, न कल्पनाओं के आकाश में कुचालें भरते हैं, बल्कि वह सत्य और संवेदना को अपने कथा प्रसंगों का प्रतिपाद्य बनाकर सामाजिक जीवन की विभत्सना और विद्रूपता को समाज के सामने रखकर उसकी चेतना को झकझोरतें हैं।[15] '' बावजूद इसके उनकी कहानियों के पात्र 'टेपचू' की तरह जीवट है, पर वैसे पात्र गांधी दर्शन की कोख से जन्म नहीं लेते बल्कि अंबेडकर के चेतन मन से उभरकर बाहर आते हैं। वे पात्र आत्मसमर्पण नहीं करते, सजग और जिंदादिली से आगे बढ़ते है। लगभग सभी कहानियों में लगता है कि प्रत्येक पात्र स्वयं में सूत्राधार है। उनकी रचनाओं में गूढ़ता नहीं आ पायी है। वे सीधी–सपाट भाषा में पाठकों से बाते करते हुए नजर आते हैं। तभी राम बना पात्र पीछे की ओर हटकर चिल्लाया--अरे चमार के छूत करेगा।''हैरी कब आयेगा'' कहानी में अंत तक पाठक के भीतर जिज्ञासा बनी रहती है।

आज दलित साहित्य चर्चा के केन्द्र में है। दलित साहित्य के घोर निषेधक रहे लोग भी अब इसके पक्षधर हो रहे हैं। इस तेजी से बदलते हुए परिप्रेक्ष्य में राजेन्द्र यादव का कपन 'कथन

---

[15] जय प्रकाश कर्दम (सं) – दलित साहित्य वार्षिकी – 2000, पृ. 288

इक्कीसवीं सदी दलित साहित्य की होगी' सत्य प्रतीत होती है। इसमें कोई शक नहीं है कि कविता कहानी और वैचारिक लेखन के मामले में दलित साहित्य अब काफी संमृद्ध है। लेकिन इसमें भी दो राय नहीं है कि उपन्यास के मामले में हिन्दी दलित साहित्य की स्थिति अभी भी दयनीय हैं। इस दयनीय अभाव की प्रथम पूर्ति 1994 में प्रकाशित जयप्रकाश कर्दम के उपन्यास 'छप्पर' ने की। इससे पूर्व 1986 में लेखक का लधु उपन्यास 'करूणा' प्रकाशित हुआ था, लेकिन कोई महत्वपूर्ण छाप नहीं छोड़ सका। लेकिन छप्पर के प्रकाशन से यह आशा बंधी थी कि अब हिन्दी दलित साहित्य उपन्यासों के मामले में दरिद्र नहीं रहेगा। लेकिन 1994 से 1998तक के इन पांच वर्षों में कोई उत्साहजनक प्रगति इस दिशा में नहीं हो सकी। 'छप्पर' के बाद ले देकर प्रेमकपाड़िया का 'मिट्टी की सौगंध', डॉ. धर्मवीर का 'पहला खत' एस. विजयी का 'सैनिक का खून' प्रकाशित हुए। लेकिन कोई छाप नहीं छोड़ सके। ऐसे में सत्यप्रकाश का 'जस तस भई सबेर' और मोहनदास नैमिशराय का 'मुक्तिपर्व' का प्रकाशित होना हिन्दी दलित साहित्य में एक घटना से कम नहीं है। दलित उपन्यास साहित्य का यह उदय काल है, ऐसे में इन उपन्यासों के प्रकाशन से भविष्य में संभावना नजर आती है।

जयप्रकाश कर्दम के उपन्यास 'छप्पर, के अनुभव संसार से बहस करते हुए ऐसा महसूस होता है कि हिन्दी उपन्यास को भारत की आजादी के बाद स्वतंत्रता, समानता एवं बंधुत्व के संवैधानिक मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में सामाजिक संरचना के सृजनात्मक साहित्य की जमीन की तलाश है। वह जमीन जिसमें जागरण, रोमानी क्रांतिकारिता और चंद किताबें पढ़कर पैदा हुई संघर्ष चेतना के बजाय मानवीय भावों और अहसासों का जीवन स्पर्श हो। इस उपन्यास का रूप बंध कुछ इस तरह का है कि कथन–उपकथन के माध्यम से ही सनातनी समाज व्यवस्था एवं परिस्थितियों के प्रति उपन्यास के केन्द्रीय पात्र चंदन और रजनी का आलेचनात्मक रूख उभरकर सामने आता है। उपन्यास की कथा एक ग्रामीण पृष्ठभूमि से पढ़ने के लिए शहर आए हुए एक ऐसे दलित युवक की विडम्बना को चित्रित करना है जो पढ़ लिखकर उंची तालीम पाना चाहता है और सामाजिक न्याय से वंचित शोषित पीड़ित अपने ही समाज के लोगों से जुड़कर अपनी पहचान बनाना चाहता है। वह कहता है" केवल सामाजिक रूप से हमारी परिस्थिति निम्म नहीं है, आर्थिक, राजनीतिक और

शैक्षिक, प्रत्येक क्षेत्र में हम पिछड़े हुए हैं। हमें प्रत्येक क्षेत्र में ऊपर आने की जरूरत है लेकिन सबसे पहली जरूरत है, सामाजिक सम्मान की।[16]

'छपपर' उपन्यास का संवेदनात्मक उद्देश्य तो उस ब्राह्मणवाद या पुरोहितवाद की बखिया उघेड़ना है जो अभी तक हमारे समाज को खोखला बनाए रखने और अपना वर्चस्व बनाए रखने के लिए पूरी तरह सक्रिय है। उपन्यास वर्ण व्यवस्था के ब्राह्मण–ठाकुर–बनिया गठजोड़ की पोल खोलने की भी कोशिश करता है। लेखक उपन्यास में एक प्रवक्ता के रूप में हमारे सामने आता है यही उपन्यास की शक्ति है।

प्रेम कपाड़िया का उपन्यास "मिट्टी की सौगंध' में सामाजिक न्याय की पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर रचना की गई है। जिसकी विषयवस्तु ग्रामीण जीवन से जुड़ी है। सामाजिक अन्याय तथा व्यवहार तो सर्वाधिक गांवों में ही होता है। केन्द्र में गांव की जमीदारी संस्कृति प्रमुख है, जो दलितों के शोषण की कारक है और सामाजिक न्याय के रास्ते में बाधक। उपन्यास का आरंभ गांव के जमींदार ठाकुर मदन सिंह के अत्याचार से होता है। शीला अपनी मां के साथ घर पर बैठी कुछ काम कर रही है कि ठाकुर आकर उसकी माँ के सामने शीला का बलात्कार कर देता है। सदमें से उसकी माँ की मृत्यु हो जाती है। उसकी दूर की मौसी उसे सहारा देती है, और जीने को प्रेरित करती है " मैं तेरा दर्द समझती हूँ बिटिया, लेकिन ... अगर तूने हिम्मत हारी तो कल को दूसरी शीला की इज्जत भी लूट जाएगी।"[17] शीला को विजेन्द्र सिंह (नायक) जो ठाकुर मदन सिंह का पुत्र है सहारा देता है। दोनों मिलकर मदनसिंह के खिलाफ लड़ते हैं। बाद में वह सारी तथा कथित ठाकुरी मर्यादा को तोड़ते हुए शीला से शादी कर लेता है। इस प्रकार बुराई पर अच्छाई की विजय के साथ उपन्यास का आदर्शवादी सुखान्त अंत हो जाता है।

सत्यप्रकाश के उपन्यास 'जस तस भई सवेर' और मोहनदास नैमिशराय के 'मुक्तिपर्व' का उल्लेख हमने दलित उपन्यास साहित्य में एक घटना के रूप में किया जिसकी संक्षिप्त चर्चा आवश्यक हो जाती है।' 'जस तस भई सवेर' का मुख्य प्रतिपाद्य यह है कि ग्रामीण समाज अभी भी अंधविश्वासों में बुरी तरह फंसा हुआ है। इससे उनका उत्थान और विकास नहीं हो पा रहा है। शिक्षा का अभाव अंधविश्वासों और रूढ़ियों को सिद्ध करता है। हर बीमारी या आपदा का कारण

---

[16] जय प्रकाश कर्दम – छप्पर, पृ. 43
[17] प्रेम कपाड़िया – मिट्टी की सौगंध, पृ. 8

भूत प्रेत, टोना–टोटका आदि का होना बताकर भगत और ओझा अनपढ़ गरीब लोगों को पूजा–पाठ में उलझाकर अपनी रोटी सेंकते है। गांव के देवता जाहरवीर सबसे बड़े है। देवताओं और भक्तों के बीच मध्यस्थता हरसन्ना भगत करता है। उसके पास हर समस्या का समाधान है चाहे भूत–प्रेत हो या जादू–टोना, संतान सुख या फिर किसी को संपन्न बनाना हो। हंसा अनपढ़ है और भगत के चंगुल में पूरी तरह फंसा हुआ है। वह अपने पुत्र और घर की कुशलता के लिए जात कर्म करवाता है परंतु फिर भी उसकी भैंस मर जाती है। इस पर भगत उससे कहता है "भाई हंसा मानोगे तो तुम बुरा पर सच्ची बात यह है कि तुमने जो जात लगाई देवता जाहरवीर ने कबूल नहीं किया है। अब या तो तुम्हारा मन सच्चा नहीं था अथवा तुम्हारे परिवारीजन की नियत में खोट या।"[18] उसकी पत्नी के यही बात कहने पर उसे पक्का विश्वास हो जाता है। फिर अंधविश्वास में पड़ा व्यक्ति मानवीय मूल्यों, संवेदनाओं को भूल हैवानियत का भी शिकार हो जाता है।

भगत द्वारा देवता बुलाने का बहुत ही सुंदर चित्रण इसमें किया गया हैं। बहुत सारा मंत्र पढ़ने के बाद जाहरवीर ने आने का नाम भी न लिया। मनचाही आहुतियां दी फिर भी सुनहरी पर आने को तैयार ही नहीं देवता। आपात जाप करने पर भी नहीं आए, तब भगत ने हाट लाइन पर देवता से सीधे बात की तब कहीं जाकर पता चला कि देवता जाहरवीर नाराज हो गए हैं। सरवन (हंसा का शिक्षित भाई) ने उनका अपमान किया है.... मैं देवता को बुला के ही रहूंगा। यह कहकर भगत आधे घंटे आंखे बंद कर मौन रहा तथा थाली में रखे चावल को मंत्रोंच्चार के साथ सुनहरी पर फेंका। कुछ अन्य क्रियाओं के बाद "सुनहरी जोर–जोर से हिलने लगी। वह अजीब प्रकार की हरकते कर रही थी... फिर भगत की ओर मुंह करके लाल–लाल आंखे दिखाने लगती है। लोग सहमकर दाएं–बाएं हो लेते हैं। उसके बाल किसी पागल की भांति इधर–उधर बिखरे हुए थे। दो तीन औरतें उसके अस्त–व्यस्त बालों को सम्भालने में लगी हुई थी। सुनहरी सबको फटकार रही थी.... भक्तों की भाषा में इसे खेलना या बकारना कहा जाता है।"[19] मरता क्या न करता, भगत के चिमटे के डर से वह जो बोल वाना चाहता है वह बोलती है।

धार्मिक शोषण बिना जमींदारों के सहयोग से संभव नहीं है। भगत और देवीपाल दोनों दलितों पर अत्याचार और कुकृत्य करते हैं। टोकने पर कहते है शर्म करो, अन्याय का विरोध करने

---

[18] सत्य प्रकाश – जस तस भई सवेर, पृ. 19
[19] सत्य प्रकाश – जस तस भई सवेर, पृ. 34

पर कहते हैं जातिवाद फैला रहे हो, कानून की शरण लेने पर कहते है एक्ट का दुरूपयोग हो रहा है। ऐसे लोगों का भी पर्दाफाश उपन्यास करता है।

लेखक ने एक अच्छी कथा वस्तु का चुनाव किया है, लेकिन कमजोर प्रस्तुतिकरण के कारण उपन्यास में वह प्रवाह नहीं आ पाया है जो उसे पठनीय बनाता। उपन्यास में घटनाएं घटती प्रतीत नहीं होती, न उनकी पृष्ठभूमि तैयार होती है, वह वर्णित होती हैं। उपन्यास या कहानी में कथा पात्रों के संवादों के जरिए आगे बढ़ती हैं लेकिन 'जस तस भई सवेर' में संवाद बहुत कम है और जो है बहुत लंबे हैं। किंतु इसके बावजूद भी उपन्यास के जरिए सामाजिक और धार्मिक रूढ़ियों के खिलाफ समाज में चेतना प्रवाहित करने की दृष्टि से एक सफल प्रयास है।

'मुक्तिपर्व' जाने–माने दलित साहित्यकार मोहनदास नैमिशराय का प्रथम उपन्यास है। जिसकी कथा संघर्षशील दलित परिवार की ऐसी कहानी है जिसमें उपन्यास का मुख्य पात्र सुनीत भारतीय समाज की विषमता से पूर्ण परिस्थितियों में आत्मविश्वास के साथ जीना सीखता है। इसमें आजादी के पूर्व और आजादी के बाद दलितों की स्थितियों में आए परिवर्तनों को चित्रित किया गया है। देश आजाद हुआ, किंतु आजादी मिलने के बाद भी दलितों को न्याय नहीं मिल पाता है। ऐसे में दलित व्यक्ति सोचने को मजबूर होता है, आखिर उसे कब मुक्ति मिलेगी, उसका मुक्तिपर्व कब आएगा? इसी के आस–पास, मुक्तिपर्व का कथानक घूमता है।

आजादी के पूर्व दलितों को दोहरी गुलामी सहनी पड़ती थी। देश के मालिक अंग्रेज थे, पर उनके मालिक नवाब/जमीदार या काश्तकार थे। बंसी नवाब अलीवर्दी खां का नौकर है। आजादी मिलते ही उसके व्यवहार में अंतर आ जाता है। वह अपने मालिक के प्रति विद्रोह कर देता है और कहता है "जनाबे आली हम न गुलाम थे, न गुलाम है, और न गुलाम रहेंगे।"[20] बरसों की गुलामी की जंजीर कैसे एक झटके के साथ टूट गई थी, किसी को पता ही नहीं। बंसी एक व्यक्ति नहीं, एक विचार है। यह विचार निरंतर विद्रोह का रूप धारण करता है। आजादी के बाद दलितों के प्रति पुलिस प्रशासन में आए बदलाव को भी उपन्यास में चित्रित किया गया है–

---

[20] मोहनदास नैमिशराय – मुक्तिपर्व, पृ. 28

"देखो संभलकर रहना, दलित अब पहले जैसे नहीं रहे हैं। इनके नेता भी अब संसद और विधान सभाओं में पहुंचने लगे हैं जो बाल की खाल निकालने लगेंगे।"[21]

बंसी के साथ–साथ उसके पुत्र सुनीत की कथा भी चलती है। कथानक की दृष्टि से उपन्यास में कोई उलझाव नहीं है, बल्कि कथा क्रम से चलती है। एक सवाल सुनीत के माध्यम से उपन्यासकार ने उठाया है। शिक्षा एवं साहित्य पर सदियों से जिन वर्गों का प्रभुत्व रहा है उन्होंने दूसरे वर्गो की उपेक्षा की है और सारे लाभ अपने हित में साधे हैं। सुनीत अपने वर्ग में प्रथम व्यक्ति है जो शिक्षा ग्रहण करने स्कूल जाता है। अपने प्रति स्कूल अध्यापकों का व्यवहार पास न होने देना, स्कॉलरशीप में व्यवधान, आदि बातें उसके मन में विद्रोह की चिनगारी जगा देती है। बंसी सुनीत को समझाते हुए कहता है "लोगों को दुख होता है हमारी आजादी से। पशु–पक्षियों की आजादी उन्हें भाती है। चिड़ियों को वे पिंजरे से मुक्त कर देते है, पर हमारी मुक्ति के सवाल पर चुप्पी साध लेते हैं। हम गुलाम तो नहीं।"[22] कुल मिलाकर उपन्यास गहरी आशा जगाता है।

जहां तक दलित कथा साहित्य के शिल्प की बात है। तो वह अभी अपनी शैशव अवस्था में है। इस पर तरह–तरह के आरोप लगाए जाते है – भाषा अपरिपक्व है, शब्दों के स्थान पर गालियों का ही प्रयोग हुआ है। गुणवत्ता को लेकर भी आरोप लगाए जाते हैं। इस पर मुद्राराक्षस लिखते हैं" अक्सर यह प्रश्न भी उठता है कि दलित रचनाएं गुणवत्ता की दृष्टि से कमजोर हैं। आखिर यह गुणवत्ता क्या है? और हमेशा उस गुणवत्ता का धार्मिक निष्ठा के साथ पालन किया गया है? छंद इस गुणवत्ता का अनिवार्य तत्व था पर आधुनिक कविता इसे छोड़ दिया। जिस अलंकार निर्भरता ने रीति साहित्य की गुणात्मकता के मानक स्थापित किए थे, अलंकारधर्मिता को वर्तमान साहित्य में कहां देखा जाएगा।"[23]

दलित साहित्य में संस्कृतनिष्ठ परम्परागत साहित्यिक भाषा, काव्य शैली, प्रस्तुतीकरण को नकार कर सर्वग्राही भाषा का प्रयोग किया है। "ऐसी भाषा जो दलितों की पीड़ा, अपमान, व्यथा की सही और यथार्थवादी अभिव्यक्ति बन सके। दलित साहित्य की भाषा नकार और विरोध की भाषा है जिसमें युगों की यातनाएं साकार हो उठी हैं।"[24] दलित साहित्य ने अपने लिए सहज,

---

[21] मोहनदास नैमिशराय – मुक्तिपर्व, पृ. 34
[22] वही, पृ. 64
[23] ओम प्रकाश वाल्मीकि – दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र, पृ. 80
[24] ओम प्रकाश वाल्मीकि – दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र, पृ. 80

सरल और आम बोलचाल की भाषा को अपनाया। जहां तक गालियों के औचित्य का सवाल है तो उसे स्वीकार नहीं जा सकता। लेकिन पात्रों के स्तर, परिस्थितियों की यदि मांग हो तो गाली भी अनुचित नहीं होगी। लेकिन यहां तो जाति को ही गालीवाचक बना किया गया है। बिना गाली के दलित उत्पीड़न की सच्ची तस्वीर नहीं बन सकती है। दलित कहानियों की स्थिति सभी दृष्टियों से परिपक्व नजर आती है। चाहे वह भाषा शैली हो या संवाद या फिर रचना विधान। कुल मिलाकर यह कह सकते हे कि दलित कथा साहित्य दलित समाज को उसकी संपूर्णता में समेटते हुए सभी प्रकार के शोषणों को सभी स्तरों पर चित्रित किया और दलित चेतना को नया स्वर प्रदान किया।

2. दलित आत्मकथा :

आत्मकथाएं आम तौर पर किसी व्यक्ति की आपबीती मानी जाती हैं। इसी दृष्टि से दूसरे के निजी अनुभव से पाठक अक्सर अपने निजी जीवनानुभवों का मेल जानना चाहता है। आत्मकथा उन लोगों का शगल है जो जीवन यात्रा करते हुए किसी विशिष्ट मुकाम पर पहुंच चुके हैं और असफलताओं, अभावों की वैतरणी पार करते हुए समाज में किसी तरह एक आर्थिक या सामाजिक स्थिरता में जीने लगे हैं। उन्हें लगता है कि उनके जीवनानुभावों से लोग कुछ शिक्षा पा सकते हैं, या कि आत्मकथा में वर्णित जीवन एक मिशाल बन जाता है। आत्मकथाकार से यह मांग की जाती है कि वह उपदेश, अतिबौद्धिकता, प्रचार, आत्मस्थापना, आत्मश्लाघा, परनिंदा आदि से बचते हुए अनुभूति सत्य को निर्लिप्त और निर्द्वन्द्व भाव से अभिव्यक्त करे। रॉय, पास्कल के शब्दों में "आत्मकथा व्यक्ति को जीवन का इतिहास ही नहीं, अपने ढंग का पुनर्कथित इतिहास है और व्यक्ति के बाह्य विश्व के साथ संबंधित आत्मनिरीक्षण का प्रशिक्षण है।"[25]

दलित आत्मकथा लेखन के प्रारंभ में कई चुनौतियां आई। लेखक इस कशमकश में रहे कि यदि वे अपनी आत्मकथा द्वारा समाज के उपेक्षित, घृणित जीवन को उजागर करेंगे तो न केवल उन्हें अपने ही समाज के लोगों द्वारा उन्हें प्रताड़ित होना पड़ेगा अपितु स्वयं को भी आत्मग्लानि होगी। यदि ईमानदारी के साथ वर्णन किया जाए तो वे सारी बातें स्पष्ट करना आवश्यक होगा जिनके कारण उन्हें दलित जीवन जीने को विवश होना पड़ा। ईमानदारी के अभाव में वे फिर आत्मकथा लेखन के साथ न्याय नहीं कर सकते। किंकर्त्तव्यमूढ़ता की स्थिति से उबरकर दलित

---

[25] रॉय, पास्कल – डिजाइन एण्ड, टूथ इन आटोबायो ग्राफी, उद्धत–कयाक्रम, पृ. 112

लेखकों ने बेबाक सच्चाई का रास्ता अपना कर अपने जीवन का मर्मांतक नग्न यथार्थ प्रस्तुत करना ही उचित समझा।

आत्मवृत्त लिखने के लिए जिस प्रकार की तटस्थता, ईमानदारी, स्पष्टता, प्रमाणिकता, निर्मता और बेबाकी की आवश्यकता होती है, वह हिन्दी में अपने हिन्दू संस्कारों के कारण उसका सदैव अभाव रहा है। इसलिए हिन्दी में किसी भी साहित्यकार की अच्छी आत्मकथा उपलब्ध नहीं है। ऐसे दौरे में इस अभाव की पूर्ति भी दलित साहित्यकारों ने करने की ठानी। हिन्दी में किसी दलित लेखक की पहली आत्मकथा 'अपने–अपने पिंजरे' वाणी प्रकाशन से सन् 1995 में प्रकाशित हुई। जिसका श्रेय मोहनदास नैमिशराय को जाता है। इससे पहले भी कुछ हिन्दी दलित लेखकों के आत्मकथा लिखने की सूचना–माताप्रसाद की 'दलित जीवन के खट्टे मीठे अनुभव' और ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा का एक अंश तो 'हरिजन से दलित' में छपा था। अब ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन' और सूरजपाल चौहान की 'तिरस्कृत' प्रकाशित हो चुकी हैं। इससे पूर्व मराठी दलित आत्मकथाओं की चर्चा आवश्यक लगती है।

दलितों के संघर्ष और उनकी पीड़ा, संवेदनात्मक आत्मकथा लेखन का प्रेरणा स्रोत डॉ. अंबेडकर का संघर्ष था। उन्होंने स्वयं अपनी अंतरंग बातें प्रो. सत्यबोध हुदलीकर को बतायीं थी। उनकी डायरी से महत्वपूर्ण अंश लेकर नवयुग के अम्बेडकर विशेषांक (13 अप्रैल 1947) में प्रकाशित हुआ। स्वयं डॉ. अम्बेडकर ने 'मैं कैसे बना।' शीर्षक से आत्मकथा लिखना प्रारंभ किया था। साक्षात्कार में पूछे जाने पर कि, यदि भारत में जन्म आधारित भेदभाव समाप्त हो जाए और अछूतों को समान नागरिकों का दर्जा मिल जाए तब आप क्या करेंगे? उन्होंने कहा था– "साहित्य का विशाल क्षेत्र अभी भी मेरे कर्म कौशल के लिए खाली पड़ा है, तब मैं साहित्य का परिशीलन और सृजन कर देश को अपनी सेवाएं समर्पित करूंगा"।[26]

डॉ. अम्बेडकर की पीड़ा उस समय स्वयं दलितों द्वारा उनकी अभिव्यक्ति समाज के सामने न आ पाने में थी। साथ ही दलितों को मौका न मिलना उनकी चिंता का एक प्रमुख कारण था। वे अपनी जनसभाओं में दलितों को पढ़ने के लिए उत्प्रेरित करते ये– "विद्या शेरनी का दूध है, पिओ

---

[26] जनसत्ता (रविवारीय)– 25 नवम्बर 2001 (वंचितों के वृत्तांत)

और दहाड़ो तथा अशिक्षा जन्य गीदड़पन को छोड़ दो। अपने विचार लिखो, कुछ नहीं सूझता तो वही लिखो जो तुम्हारे अपने साथ गुजरी है।"

आज के दौर में आत्मकथा लिखने में लेखक के साथ कुछ दिक्कतें भी दिखाई पड़ती हैं कि वे पूरे दलित समाज को व्यापक दृष्टि से न देखकर अपने व्यक्तिगत उत्थान को ही अधिक तरजीह देते हैं। लेकिन अपनी बात को, जाति को खुलकर समाज के सामने लाने के लिए काबिले तारीफ है।

मराठी के लेखक दयापवार की आत्मकथा 'अछूत' दलित साहित्य और समाज की एक अहम् कृति है। इसमें लेखक ने अपना सारा ध्यान समाज की आत्मपीड़ा पर केन्द्रित किया है। इसमें अछूतों का वह घायल संसार झांकता है जिसे बिना किसी गुनाह के यातना झेलनी पड़ी। आज की तरह उन दिनों भी दलितों को झूठे केसों में फंसा देना आम बात थी।

दलितों महिलाओं ने भी आत्मकथाएं लिखी। इन दलित महिलाओं ने अपनी दोहरी त्रासदी को लेखन के माध्यम से उजागर किया है। मराठी की शांताबाई कृष्ण जी कांबले की आत्मकथा 'माज्या जल्माची चित्तरकथा' चर्चित रही है। महिलाओं में प्रथम आत्मकथा लिखने का श्रेय इन्हें ही जाता है। आत्मकथा में स्त्री–पुरूष भेद, जाति भेद, समाज की परम्परागत जकड़नों से टकराने और पूर्वाग्रही मानसिकता का भरपूर चित्र हैं। सारांश यह है कि मुक्तिमार्ग, शिक्षण–प्रशिक्षण, चितंन–मनन और समता स्वतंत्रता के डेमोक्रेटिक मूल्यों से होकर जाता है। बेबी कांबले की आत्मकथा 'जीवन हमारा' इस दोहरी त्रासदी का विस्तार है। कि दलित मांए किन हाल में बच्चियों को जन्म देती है, जिनके बारे में क्या सोचती है, यह बेबी कांबले की आत्मकथा में देखिए बच्चा होने पर उस औरत का पेट एक दम खाली कुंए की तरह हो जाता है। उसे बेतहासा भूख लगती है। लेकिन क्या करे ? तड़पती रहती है।' प्रो.मैनेजर पाण्डेय की राय में, 'जीवन हमारा' का हिन्दी में आना विशेष महत्व रखता है। उनके मुताबिक' इससे हिन्दी के दलित साहित्य की सर्जना और आलोचना को नई प्रेरणा मिलेगी।[27]

शरण कुमार लिंबाले की आत्मकथा 'अक्करमाशी' दलित समाज की सर्वाधिक दुखती रगों में से एक पर अंगुली रखती है। यह है– दलित समाज में अवैध पैदाइश का सवाल। दलित

[27] जनसत्ता (रविवारीय)– 25 नवम्बर 2001 (वंचितों के वृत्तांत)

चिंतक डॉ.धर्मवीर ने इस सवाल पर विचार करते हुए शरण कुमार लिंबाले को सामाजिक इतिहास के अनेक पात्रों की श्रृंखला से जोड़ा है, इसमें सत्यकाम जाबाल, स्वेतकेतु, कर्ण और महीदास प्रमुख हैं। शरण कुमार बैंक में खाता खोलने गए जहां पिता के नाम की आवश्यकता पड़ी और आत्मकथा लिखने की वजह बनी। लक्ष्मण गायकवाड़ की 'उठाईगीर' की समस्या यह है कि इतना बड़ा समाज रोजी–रोटी के मूलभूत साधनों से वंचित है और इसीलिए जीवन निर्वाह के लिए चोरी और पाकेट मारी पर निर्भर है। यह आत्मकथा सरलीकृत यथार्थ से आगे जाती है और बताती है कि दरअसल उठाईगीर या उचक्का कहलाने वाला समुदाय तो बस माध्यम है असली उचक्के वे हैं जो ऊंची कुर्सियों और ऊंचे पदों पर बैठे हैं और जिनकी दिलचस्पी सिर्फ अपने स्वार्थ में है। उचक्के की विशेषता है कि इसमें कहीं भी आत्मदया पर आभामण्डल का सहारा नहीं लिया गया है। सब कुछ सीधे, सपाट शब्दों में विवरण इतना संवेदनशील है कि देर तक स्मृति में बचा रहता है।

मराठी दलित आत्मकथाएं के इस संक्षिप्त चर्चा के बाद हिन्दी में दलित आत्मकथाओं पर एक दृष्टि डालते हैं। मराठी के प्रभाव से इस दिशा में लेखन करने वाले लेखकों ने कितनी सच्चाई और बेबाकी से रूबरू हुए हैं? जैसा कि हम जानते है हिन्दी दलित साहित्य की प्रथम आत्मकथा 'अपने–अपने पिंजरे' है। 'अपने –अपने पिंजरे' अकेले नैमिशराय जी की ही नहीं बल्कि वह समूचे दलित शोषित समाज की आत्मकथा है। इसकी शुरूआत मेरठ के इतिहास से होता है जो वर्तमान की वास्तविक स्थिति से परिचय कराता है। लेखक इन स्थितियों को देखने के बाद लिखता है– "शहर का भूगोल बदल रहा है। पर इतिहास वैसा ही था।[28] यहां भूगोल बदलने का मतलब भौतिक परिवर्तन से है और इतिहास का मानसिक परिवर्तन से। भौगोलिक परिवर्तन का दलित बस्तियों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता "पर हमारी बस्तियां नंगी और सपाट होती, गंधहीन पर अजीब सी दुर्गंध परिवेश में फैली होती है। घर–घर में चमड़ा भरा होता है। आंगन में चमड़े के गीले टुकड़े सूखने के लिए पड़े होते हैं। ऐसी बस्तियों के आस–पास हवा चलती तो महसूस होता, यही कहीं चमारवाड़ा है।"[29]

संवेदना के स्तर पर 'अपने–अपने पिंजरे' में जीवन के हर पहलू की झलक मिलती है। जब लेखक बच्चा था तब मॉ की संवेदना की कमी, बड़े होने के बाद प्रेम की और सामाजिक

---

[28] मोहनदास नैमिशराय – अपने–अपने पिंजरे, पृ.11
[29] वही – पृ. 12

तिरस्कार की। इसमें दो तरह की संवेदनाएं नजर आती हैं– एक सामान्य जीवन में घटने वाली जैसे–बिन मॉ के बच्चे का लालन–पालन, आर्थिक जीवन में दुख संताप...। दूसरी संवेदना जो इसकी मूल संवेदना है–जाति के नाम पर तिरस्कार, शोषण और पीड़ा। दोनों का सच्चाई से निर्वाह हुआ है।

'अपने–अपने पिंजरे' में नैमिशराय जो नहीं जानता था कि जातियां क्या होती है? जाति व्यवस्था क्या है? वह समाज में वैसा ही जीवन जीना चाहता है, जैसे और जीते हैं। लेकिन कदम–कदम पर उसे चमार होने का अहसास कराया जाता है। उसकी जाति नीच, अछूत है। वह समाज के साथ कदम से कदम मिलाकर नहीं चल पाता है।

धार्मिक और सामाजिक तिरस्कार का असर लेखक पर इतना हुआ कि वह नास्तिक बन गया'–यूं तुम्हारे मंदिर और तुम्हारा प्रसाद...,' कहकर मैं चला आया। समाज में दलित दो पाटों के बीच पीस रहे हैं। हिन्दू उन्हें अपने में सहने तक नहीं देते, मुसलमान भी उनसे घृणा करते है। वह अपने 'बा' से पूछता है–'हम कौन है?, हम चमार है–'बा' ने बोला। "पर क्या चमार हिन्दू नहीं होते? मैनें फिर से पूछा। बा ने कहा 'चमार –चमार होते हैं। न हिन्दू व मुसलमान।"[30]

'अपने–अपने पिंजरे के पिंजरों में कई संवेदनाएं छिपी हुई हैं। जहां एक ओर जाति का पिंजरा है तो दूसरी ओर अर्थ का। जिस्म बेचने वाली वेश्याएं पिंजरे में है तो कही शराब का धंधा करने वाली सूखी। जाति के दुख दर्द के साथ–साथ इसमें उभरती हुई नई चेतना है।

'अपने–अपने पिंजरे' दलितों की सामाजिक पीड़ा और संवेदना को दिखाने के लिए जितना चर्चित रही है, उतना ही अपनी भाषा के लिए विवादित भी। साहित्य में गाली–गलौज की भाषा से परहेज किया जाता रहा है। भाषा के स्तर पर लेखक ने व्यक्ति और समाज से जुड़ी भाषा को लिया है। वह भाषा को उसी रूप में रखना चाहा है जहां जैसी बोली जाती है– मेरठ की बोली से लेकर बम्बईया की बोली मिलती है। गाली भी किसी खास समाज में बोली का एक अंग है, वहां के लोगों की जुबान है। लेखक ने भाषा की साहित्यिक सीमा को तोड़ा है। जिस तरह से दलित समाज में बोली जाती है, शब्दों को उसी तरह से अपनी आत्मकथा में रखने का प्रयास किया है।

---

[30] अपने–अपने पिजंरे, पृ. 51

लेखक ने भाषा को साहित्यिक वैशिष्टय में भटकने नहीं दिया है। लेखक का स्वयं मानना है कि दलितों के जीवन में जिस भाषा का प्रयोग होता है उसे ही अपनी रचना में स्थान दिया है।'

सुपरिचित दलित कथाकार ओमप्रकाश वाल्मीकी की आत्मकथा 'जूठन' सन् 1999 में प्रकाशित हुई। यह संघर्ष का वृतांत और गर्व भरी पहचान बनने की कहानी है, जो यह संकेत देती है कि हिन्दी का दलित लेखन प्रौढ़ होने की राह पर मजबूती से बढ़ चला है। 'जूठन' की विशेषता है– लोकतांत्रिक या जनवादी सोच–विचार के करीब होना और मार्क्सवाद के प्रति झुकाव। यह ऐसी दलितवादी या अंबेडकरवादी आत्मकथा है जिसमें लेखक को डॉ. अंबेडकर ताकत और प्रेरणा देते हैं। लेखक दलित आंदोलन के अंतर्विरोधों व अन्तर्द्वन्द्व को छिपाता नहीं, बल्कि उन पर सजग व संवेदनशील कलाकार के रूप में सधी हुई टिप्पणी करता है। दलित आंदोलन के लोकतांत्रिक चरित्र व ताकत और साथ ही उनकी सीमाओं को कला के स्तर पर समझने के लिए 'जूठन' जरूरी और मुकम्म्ल किताब है।

वाल्मीकि पश्चिमी उत्तर प्रदेश के एक ऐसे दलित परिवार में पैदा हुए हैं जो जातिगत धरातल पर दलितों में भी अत्यंत निचले पायदान पर और बहुत पिछड़ा हुआ रहा है। यह जाति है– भंगी या मेहतर। निहायत प्रतिकूल, विकट, खौफनाक व अपमानजनक स्थितियों से जीवन शुरू करके आत्मसम्मान से लैस व्यक्ति और विचार संपन्न लेखक व कलाकार बनने की गाथा है, जो उद्वेलित कर देती है। यह वर्गों व जातियों के बंटे समाज में व्यक्ति की खोई हुई गरिमा को हासिल करने के लिए की जाने वाली जद्दोजहद का जीवंत दस्तावेज भी है। लेखक के शब्दों में "आजादी के पांच दशक पूरे होने और आधुनिकता के तमाम आयातित अथवा मौलिक रूपों को भीतर तक आत्मसात कर चुकने के बावजूद आज भी हम कहीं न कहीं सवर्ण–अवर्ण के दायरे में बंटे हुए है। सिद्धांतों और किताबी बहसों से बाहर, जीवन में हमें आज भी अनेक उदाहरण मिल जाएंगें। जिनसे हमारी जाति और वर्गगत असहिष्णुता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।"[31]

भारतीय समाज इस तरह का है कि उसमें पैदा होते ही व्यक्ति की पहचान उसके जाति से जुड़ जाती है। उसे कदम–कदम पर उसका दंश झेलना पड़ता है। सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप ही हमारी शिक्षा व्यवस्था है जो समानता, भाईचारे का पाठ पढ़ाने की बजाय भेद–भाव की

---

[31] जूठन, आवरण पृष्ठ से

ही शिक्षा देती है। लेखक गांव के स्कूल में दलित छात्रों की पीड़ा को इस प्रकार चित्रित किया है– हेडमास्टर काली राम ने उससे पूछा क्या नाम है बे तेरा? ओम प्रकाश, मैंने डरते–डरते धीमे स्वर में अपना नाम बताया। 'चूहड़े का है' "हेडमास्टर का दूसरा सवाल 'जी',[32] फिर क्या उससे स्कूल में झाड़ू तथा मैदान साफ कराया जाता है। एक दिन वह कक्षा में जाकर चुपचाप बैठ गया। थोड़ी देर बाद उनकी दहाड़, सुनाई पड़ी, 'अबे ओ चूहड़े के मादरचोद कहां घुस गया–– अपनी मॉ...।[33] "यह है पाठशाला और दलित का संबंध? जिस समाज में गुरू को ईश्वर से भी अधिक महत्ता दी गई उसमें गुरू का यह रूप कितना घिनौना है? यह तो मात्र एक झलक है। ऐसी एक नहीं अनेकों घटनाएं आए दिन होती रहती हैं। बचपन से लेकर आज तक न जाने कितने दंश जिस्म पर ही नहीं, मन पर भी खुदे हैं। जिस्म पर लगे इन दंशों से निराश होकर लेखक कहता है" वक्त बदला है लेकिन कहीं कुछ है जो सहज नहीं होने देता हैं। कई विद्वानों से जानना चाहा कि सवर्णो के मन में दलितों, शूद्रो के लिए इतनी घृणा क्यों है? पेड़–पौधों, पशु–पक्षियों को पूजने वाला हिन्दू दलितों के प्रति इतना असहिष्णु क्यों है? आज जाति एक विशिष्ट और महत्वपूर्ण घटक है। जब तक यह पता नहीं होता कि आप दलित है तो सब कुछ ठीक रहता है, जाति मालूम होते ही सब कुछ बदल जाता है। फुसफुसाहटे दलित होने की पीड़ा चाकू की तरह नस–नस में उतर जाती है। गरीबी, अशिक्षा, छिन्न–भिन्न दारूण जिंदगी, दरवाजे के बाहर खड़े रहने की पीड़ा, भला अभिजात गुणों से संपन्न सवर्ण हिन्दू कैसे जान पाएंगे।"[34]

'जूठन' ऐसे ही उदाहरणों की श्रृंखला है जिन्हें एक दलित व्यक्ति ने अपनी पूरी संवेदनशीलन के साथ स्वयं भोगा है। जूठन न लेने के विरोध का प्रसंग 'जूठन' में रोमांचित करता है। – "टोकरा भर तो जूठन ले जा रही है–– उपर से जाकतों के लिए खाना मांग री है ? अपनी औकात में रह चूहड़ी! उठा टोकरा दरवाजे से और चलती बन। सुखदेव त्यागी के शब्द मेरे सीने में चाकू की तरह उतर गए थे। जो आज भी अपनी जलन से मुझे झुलसा रहे हैं। उस रोज मेरी मॉ की आंखों में दुर्गा उतर आई थी। मां का वैसा रूप मैंने पहली बार देखा था। मॉ ने टोकरा वहीं बिखेर दिया था। सुखदेव से कहा था–' इसे ठाके अपने घर में धर ले। कल तड़के बारातियों को नाश्ते में खिला देना ...।"[35]

---

[32] जूठन, पृ. 14
[33] जूठन, पृ. 15
[34] वही, पृ. 160
[35] जूठन,, पृ. 21

जूठन जैसी साहित्यिक रचनात्मकता कम हैं। कुल मिलाकर सामाजिक अंतर्विरोधों का खुलासा अधिक है। इसमें लेखक ने स्वभाविक ही अपने उस 'आत्म' की तलाश करने की कोशिश करता रहा है, कभी परोक्ष रूप में, कभी प्रत्यक्षतः। इसलिए इसमें पीड़ा भी है, असहायता भी है, आक्रोश और क्रोध तथा अपने आपको आदमी का दर्जा दिए जाने की सहज मानवीय इच्छा भी। भाषा और शिल्प की दृष्टि से 'जूठन' सशक्त रचना है। कहीं भी भाषिक स्तर पर इसमें बिखराव नजर नहीं आता है। बोलचाल के शब्दों से लेकर शिष्ट शब्दों का प्रयोग किया गया है। वाक्य छोटे–छोटे और संवाद शैली की विलक्षणता स्पष्टतः प्रभावित करती है।

हिन्दी में मराठी क्षेत्र की महिला कौशल्या बैसंत्री ने आत्मकथात्मक उपन्यास 'दोहरा अभिशाप' लिखा। इसमें पारिवारिक और सामाजिक पृष्ठभूमि अधिक आयी इसलिए इसे आत्मकथा नहीं कहा जा सकता। इसके बावजूद पढ़ते समय लगता हैं आत्मकथा पढ़ रहे हैं।

अछूत होकर जीने का अर्थ क्या होता है? एक भंगी बच्चे के सपने क्या होते है? उनका पूरा जीवन ही साहित्य में, समाज की चेतना से लगभग गायब है। अच्छे भले सामाजिक रूप से प्रतिबद्ध लोगों को इस कमी का एहसास नहीं होता। ऐसे ही एहसास को जागाने का काम सुरजपाल चौहान की आत्मकथा 'तिरस्कृत' करती है। जैसा कि नाम से स्पष्ट है यह जाति (भंगी) समाज की निम्न से निम्नतर श्रेणी में आती हैं। इसका केन्द्रीय काय लेखक के ही शब्दों में "आज सब कुछ तो उजागर हो चुका है। हां जिन्हें सही ऐतिहासिक ज्ञान नहीं है वे हिन्दुत्व की संकीर्ण मानसिकता की धारा में गोते खा रहे हैं और अपने ही भाइयों वाल्मीकि या भंगी जाति के लोगों से अपने आपको श्रेष्ठ माने बैठे हैं।[1] अर्थात दलित ही आपस में ब्राह्मणों जैसा व्यवहार करते है।

दलित समाज का व्यक्ति कितना ही योग्य क्यों न हो परंतु उसकी जाति का पता चलते ही उसकी सारी योग्यता भरभराकर जाति के दायरे में आ जाती है। नाम पूछने के बाद 'आगे क्या है? या फिर पूरा नाम क्या है? के द्वारा जाति को जानने की इच्छा सवर्ण समाज रखता है। इसलिए उससे बचने के लिए दलित अपने नाम के अंत में सवर्ण सूचक टाइटल लगा लेते है। स्कूल से लेकर कॉलेज में व्यवहार पर काबू पाने के लिए "मैंने अपने नाम के साथ अपना गोत्र 'चौहान' का प्रयोग करना शुरू कर दिया। अब कॉलेज के साथी मुझे राजपूत समझने लगे।"[36]

---

[36] सूरजपाल चौहान – तिरस्कृत, भूमिका

लेकिन इससे कब तक बचा जा सकता है? इसलिए लेखक की जाति का जब भी पता चला है उसके साथ व्यवहार में तुरंत परिवर्तन हो गया चाहे वह दलित हो या सवर्ण।

'तिरस्कृत' में लेखक ने भंगी जाति की गरीबी और जहालत का हृदयविदारक चित्र उपस्थित किया है। आठ वर्ष की उम्र में मॉ के साथ जूठन उठाने जा रहा है। 'मैं मन ही मन बहुत खुश था कि आज माँ के साथ जूठन उठाने जा रहा हूँ... चलते चलते माँ ने मुझे एक कोने में रखे डंडे को भी उठाने को कहा। मैंने माँ के कहने से डंडा तो हाथ में उठा लिया, लेकिन मैं सोच रहा था कि डलिया मे पूरियां, मटकी में दही और बालटी में तरकारी भर लेगे। माँ ने डंडा उठाने को क्यों कहा? "लेखक का बाल मन लोगों को पंगत में खाते देखकर ललचने लगा।"[37] मैंने माँ से कहा – जीजी, ये हमें खाएबे कूँ नाय देंगे। 'दिंगे, नैक देर रूक जा', माँ ने मुझे तसल्ली देते हुए कहा।' थोड़ी देर बाद खा चुकने के बाद लोग पत्तल लेकर उनकी तरफ आने लगे।" माँ टोकरा व मटकी लिए तैयार बैठी थी। लेकिन मैं तैयार नहीं था। ... माँ ने बेटे को तैयार रहने को कहा कब या? जैसे ही उस आदमी ने अपनी जूठी पत्तल और दही पूरी वाला भोलुआ डलिया के पास रखा कि पलक झपकते एक कुत्ता पत्तल से पूरी के टुकड़े मुंह में दबाए चलता बना।... जब उसका ध्यान पत्तल मुंह मारते कुत्ते पर गया तो वह आंखे दिखाते हुए मुझसे बोली– कढ़ी खाए, कुत्ता आंखिन के सामने से पूरी उठाए कै लै गयौ और तू देखत रहेयौ— तौपे डंडा ना मारौ गयौ'। अब मेरी समझ में डंडा का कार्य आ गया। 'कुत्ते मेरे उपर गुर्रा रहे थे, लेकिन डंडे की मार से घबराकर दूर खड़े थे। कुत्तों का गुर्राना उचित था, क्योंकि हम उनके हिस्से का माल समेट रहे थे।[38] 'यह हिन्दू समाज की असलियत है। हमारे समाज के लिए इससे करारा व्यंग क्या हो सकता है ? फिर भी मेरा भारत महान?

कुल मिलाकर दलित आत्मकथाओं में दलित छवि एक सचेतन आत्म पर संघर्षरत स्वाभिमानी व्यक्ति के रूप में उभर कर आयी है। दलित आत्मकथाकार अतीत की भद्दी तस्वीरें देखते हैं। साथ–साथ उन हाथों को भी पकड़ते है जिन्होंने कई सौन्दर्य से भरी जीवन झांकियों पर ईर्ष्यावश कालिख पोत दी है। इतिहास विहीन समाज में ये आत्मकथाएं सूचनाओं– तथ्यों और स्थितियों के ऐसे प्रमाण जुटाती हैं जिनके बगैर हिन्दी समाज का अध्ययन अधूरा है। दलित चेतना

---

[37] सूरजपाल चौहान – तिरस्कृत, भूमिका
[38] वही, पृ. 15

के दिली पक्षघर डॉ. अमर सिंह बार–बार इतिहास के सबक को दोहराते है –"दलित आत्मकथाएं सत्य के जरूरी दस्तावेज है, इन्हें ब्राह्मणों को प्राथमिकता से पढ़ना चाहिए। यदि वे नहीं पढ़ पा रहे है तो वे खुद को नहीं समझ पाएंगे।"[39]

3. परम्परा के मूल्यांकन का दलित दृष्टिकोण :

'मनु स्मृति' की अन्याय पर आधारित समाज व्यवस्था ने भारतीय समाज को पुरूष प्रधान व ब्राह्मण वर्ग द्वारा नियंत्रित बना दिया। भारतीय भाषाओं के साहित्य पर भी इस व्यवस्था का असर दिखाई देता है। नायक– नायिकाएं उच्चवर्ग के हो, इस दुराग्रह ने यहां के साहित्यकारों से दलित वर्ग के चित्रण को सदैव गौण और दयनीय स्थान दिलाया। उनके पास दलित वर्ग के नायकों और कथानकों का सदैव अभाव रहा। वे मनु द्वारा दी गई सामाजिक व्यवस्था से बाहर निकलकर श्रेष्ठ मानवतावादी एवं परिवर्तनवादी साहित्य लिखने का साहस भी नहीं जुटा पाए। प्रकारांतर से स्वयं भी इस अन्याय एवं शोषण परक व्यवस्था हामी रहे। यही कारण है कि रामायण, महाभारत एवं गीता जैसे वर्ण व्यवस्था के पोषक ग्रंथो को धार्मिक ग्रन्थ मानकर रामकथा, कृष्णलीला पर अनेकानेक कवियों, लेखकों ने अपनी कलम चलाई। आज भी यह परम्परा जारी है, किंतु रामायण के शबरी के उच्च चरित्र पर, राम द्वारा तपस्वी शूद्र शम्बूक वध पर, द्रोण द्वारा एकलव्य के साथ किए गए अन्याय पर, महाभारत के दास पुत्र कर्ण पर और दासी पुत्र विदुर पर, दास–दासियों, की स्वामिभक्ति एवं उनके चरित्र आदि पर कितने लेखकों– कवियों ने अपनी कलम चलाई? दलित साहित्य में जो पात्र कल के खलनायक ये, वे आज के नायक हैं। ये सिर्फ बदले की भावना से नहीं बल्कि बौद्धिक और तार्किक आधार पर नायक ठहरते हैं न कि परम्परा पोषित राम, कृष्ण, मनु. .. आदि। दलितों के लिए तो ये महाखलनायक हैं जिनके कारण आज भी एक खास या जाति विशेष के लोग मानवीय अधिकारों से वंचित है।

परम्परा के प्रति मूल्यांकन का दलित दृष्टिकोण 'दलित' शब्द और 'दलित साहित्य' के अर्थ एवं परिभाषा में अभिव्यक्त होता है। 'दलित' शब्द एक समुदाय विशेष द्वारा स्वयं स्वीकृत शब्द है जो परिवर्तन और क्रांति की चेतना का प्रतीक है। सवाल यह है कि परिवर्तन किसका और क्रांति किसके प्रति? इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि परिवर्तन हिन्दू समाज व्यवस्था का और इसके

---

[39] जनसत्ता (रविवारीय) – 25 नवम्बर 2001, वंचितों का वृतांता

लिए क्रांति आवश्यक है। क्योंकि यह हजारों वर्षों से मानव को मानव से अलग कर दिया। 'दलित' शब्द में शोषण आधारित व्यवस्था के प्रति आक्रोश है। दलित व्यवस्था का आमूल परिवर्तन चाहता है। दलित साहित्य शोषितों का साहित्य है। वह 'मैं' का नहीं 'हम' का साहित्य है। उसे अपने भीतर स्थित 'मैं' और 'हम' की खोज करनी है। इसमें अवतारवाद, आत्मवाद, ईश्वरवाद, के विद्रोह की प्रेरणा है। दलित साहित्य वक्त का साहित्य है। इसमें मनुष्य, देव, धर्म आदि से ऊपर है। इसका केन्द्र बिंदु मानव है। दलित साहित्य का मूल लक्ष्य है सामाजिक परिवर्तन और और इसकी नींव सामाजिक समता, स्वतंत्रता, बंधुत्व की भावना में व्यक्त होती है। अर्थात दलित साहित्य विरोध और नकार का साहित्य है'--धार्मिक रूढ़ियो का, आर्थिक विषमताओं का, साहित्यिक परम्पराओं और मानदण्डों तथा सौन्दर्यशास्त्र का।

'दलित साहित्य' के मूल लक्ष्य में दलित दृष्टिकोण निहित है। दलित आज परम्परागत सभी चीजों को प्रश्नवाचक दृष्टि से देखता है और इस पर मानवीय और तार्किक दृष्टि से विचार कर खारिज कर देता है। इसलिए दलित साहित्यकारों पर यह आरोप लगाया जाता है कि वे मात्र विरोध करते हैं। उन्हें जातिवादी कहा जाता है। अपने अधिकार की लड़ाई समाज को अव्यवस्था की अलमातें नजर आती हैं। लेकिन दलित साहित्य अपने मूल लक्ष्य की ओर अग्रसर है– सारे व्यवधानों के बाद भी। वह अपने साहित्य की खोज करना चाहता है। इतिहास की व्याख्या नए दृष्टिकोण से करता है। ब्राह्मणवादी व्यवस्था के पोषक इतिहासकारों के लिए मनु और पुण्यमित्र शुंग हीरो हो सकते हैं लेकिन दलित के लिए नहीं। डॉ. अम्बेडकर ने 1927 में मनुस्मृति को जलाकर इसको सिद्ध कर दिया।

दलित अंधविश्वास और रूढ़ियों को नकारता है। इसके प्रति वह वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखता है। दलित समाज के लिए अंधविश्वास और रूढ़ियां गुलामी की व्यवस्था को जन्म देने वाली सशक्त कड़ियां हैं। इनका धर्म द्वारा पोषण होता है। दलित तो ब्राह्मणवादी धर्म को ही अस्वीकार कर देता है क्योंकि उसका आधार ही शोषण और उत्पीड़न है। धर्म ने एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य से अलग कर दिया और उसे पशु से भी बद्तर जीवन जीने के लिए अभिशप्त कर दिया। हिन्दू समाज व्यवस्था की एक अजीब विडम्बना यह है कि उसमें पशु–पक्षियों, पेड़–पौधों की तो पूजा होती है लेकिन एक मनुष्य को उसके मानवीय अधिकारों से वंचित कर दिया जाता है। प्राचीन हिन्दू समाज दलित की परछाई से अशुद्ध हो जाता था। दलितों को कुएं से तो दूर तालाब से भी

पीने का पानी नहीं लेने दिया जाता था। वे गंदा पानी पीने को मजबूर थे। ये कहां का न्याय है? डॉ. अम्बेडकर ने परम्परा को नकारते हुए मानवाधिकारों की बात की और इसके लिए आंदोलन चलाया– महार आंदोलन तथा चाबर तालाब में किया गया आंदोलन दलितों के जागरण की गाथा है। दलितों के लिए मंदिर प्रवेश और तालाब के प्रयोग को लेकर गांधी और डॉ. अंबेडकर दोनों ने आंदोलन चलाया लेकिन दोनों के दृष्टिकोण में बहुत अंतर है। ये अंतर दलित और सवर्ण का अंतर है।

दलित साहित्य मिथकों को तोड़ते हुए नए मिथक गढ़ रहा है। उसके लिए राम, कृष्ण आदि परम्परा के पोषकों का कोई महत्व नहीं है। दलित दृष्टिकोण से तो राम और कृष्ण सबसे बड़े जातिवादी ठहरते हैं। लेकिन किसी गैर दलित ने आज तक इस ओर ध्यान नहीं दिया। राम मर्यादा पुरूषोत्म है लेकिन उनकी मर्यादा कुल अथवा ब्राह्मणवाद के प्रति है। उनके लिए नारी और दलित दोनों बराबर है। शंबूक का वध उनकी मर्यादा भंग करने के कारण ही हुआ। डॉ. पुरूषोत्तम अग्रवाल के शब्दों में 'शम्बूक कोई चोरी डकैती करता नहीं मारा गया था, बल्कि वह शूद्र होकर पुण्यात्मा बनने के सपने देखने लगा था।'[40] सरल शब्दों में कहे तो शंबूक और एकलव्य का हस्र यह इसलिए हुआ, क्योंकि वे दोनों अपनी औकात से बाहर जा रहे थे और उसकी सजा मिली। वस्तुतः शूद्र को अपने समान न आने देने की मानसिकता भारत के तथाकथित सवर्ण समाज में सदियों से व्याप्त रही हैं, जो आज भी किसी न किसी रूप में कायम है। आज के भारतीय समाज की विडम्बना यह है कि जिस द्रोणाचार्य ने एकलव्य का अंगूठा काट लिया था, आज उसके नाम पर प्रशिक्षक का पुरस्कार दिया जाता है।

भारतीय समाज व्यवस्था में जातिवाद को बनाए रखने में धर्म ग्रंथों की महती भूमिका रही है। दलितों के लिए ये ग्रंथ, कूड़े के समान है। वेद और उपनिषदों को आज लोग नहीं पढ़ते, आज गीता और रामचरित मानस का पाठ होता है। आज के वेद यही हैं। मानस तो एक धर्म ग्रंथ के रूप में स्वीकृत हो गया है। लेकिन इसी मानस में तुलसी दास लिखते हैं "पूजिय विप्र ज्ञान–गुण हीना, शूद्र न गुण मन ज्ञान प्रवीणा' अर्थ स्पष्ट है। यही नहीं शूद्र को तो उन्होंने पशु के समान माना है– 'ढोल गवार शूद्र पशु नारी, सकल ताड़ना के अधिकारी।' यही हाल गीता का है। गीता को नीति और न्याय का सर्वोच्च ग्रंथ माना जाता है। इसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्धांत है–

---

[40] डा. पुरुषोत्तम अग्रवाल – संस्कृति, वर्चस्व और प्रतिरोध, पृ. 85

'निष्काम कर्मयोग अर्थात बिना फल की कामना किए कर्म करना। पढ़ने और सुनने में यह सिद्धांत अच्छा लगता है। किंतु इसकी गहराई में जाए तब कुछ और समझ में आता है? एक गरीब मजदूर किसी के खेत में या मिल में काम करता है। गीता में इस मजदूर के लिए निर्देश है कि बस कर्म कर, अपनी पूरी क्षमता और निष्ठा से मेहनत कर। कितनी मजदूरी मिलेगी या मिलनी चाहिए इसकी चिंता मत करना। लेकिन मालिकों ने कभी उन्हें मेहनत की उचित मजदूरी नहीं दी। उन्होंने कभी अपने धर्म का पालन नहीं किया। निष्काम ने दलितो को बंधुआ मजदूर, बना दिया और झुग्गी–झोपड़ियों में भूखे नंगे रहने को अभिशप्त कर दिया। गीता और मानस दोनों ही दलितों के लिए अहितकर है।

इसलिए दलित वर्ग इन मिथकीय चरित्रों और धर्म ग्रंथों तथा धर्मउन्नायकों को नकाराते हुए सामाजिक समता, भाईचारे और बंधुत्व की स्थापना को महत्व दिया। इसके लिए दलित साहित्यकार अपने मिथक खुद रचता है और ये उनके प्रेरणा स्रोत होते हैं। मनुष्य को समता का पाठ पढ़ाने वाले उन्नायक बुद्ध, कबीर, नानक, रैदास, अछूतानंद, चोखा मेला, फुले, नारायण गुरू, पेरियार और डॉ. अंबेडकर आदि हैं। इसलिए दलित इतिहास में उपेक्षित इन नायको को स्थापित कर उनके प्रेरणा और शक्ति कामी विचारों को अगली पीढ़ी के लिए ही नहीं, बल्कि सदियों तक के लिए सुरक्षित करना चाहते हैं। परम्परागत नियमों ने तो देश का नुकशान ही किया है। ओम प्रकाश वाल्मीकि के शब्दों में'' तरह–तरह के नियम रचे गए–वीरता के आदर्शों के। कुल मिलाकर क्या परिणाम निकले? पराजय, निराशा, निर्धनता, अज्ञानता, संकीर्णता, कूपमंडूकता, धार्मिक जड़ता, कर्मकाण्डो में उलझा समाज जो टुकड़ो में बटकर कभी यूनानियों से हारा, कभी शकों से, कभी हूणो से, कभी अफगानों से, कभी मुगलों से और कभी अंग्रेजो से हारा। फिर भी अपनी वीरता और महानता के नाम पर कमजोर और असहायों को पीटते रहे। आत्म–सलाधा में डूबकर सच्चाई से मुँह मोड़ लेना, इतिहास से सबक न लेना, आखिर किस राष्ट्र के निर्माण की कल्पना है।[41] क्या यह गौरव योग्य है?

---

[41] जूठन, पृ. 160

4. दलित साहित्य और सौन्दर्य शास्त्र :

सौन्दर्यशास्त्र का उदेश्य सौन्दर्य तथा उसकी अनुभूति की व्याख्या करना है। साधारणत : सौन्दर्यशास्त्र के विद्वान जिस सौन्दर्य का विवेचन करते हैं, वह साहित्य तथा अन्य ललित कलाओं का सौन्दर्य होता है। डा. रामविलास शर्मा के अनुसार 'सौन्दर्यशास्त्र और मानव जीवन का गहरा संबंध है। सौन्दर्य शास्त्र का विवेच्य विषय साहित्य तथा अन्य ललित कलाओं के अतिरिक्त प्रकृति और मानव जीवन का सौन्दर्य भी है।"[42] दलित साहित्यकार मनुष्य को केन्द्र में रखकर साहित्य के प्रयोजन को देखते हैं। उसका लक्ष्य है – दलित समाज को गुलामी से अवगत कराना और सवर्ण समाज के समक्ष अपनी व्यथा और वेदनाओं का बयान करना। अतः दलित साहित्य का सौन्दर्य दलित की व्यथा और वेदना में है।

दलित साहित्य मानता है कि प्रत्येक वह कार्य या उसके करने का तरीका सौन्दर्यपूर्ण ही है, जिसे मजबूत समाज, राष्ट्र, देश और आदमी के लिए किया या अख्तियार किया जाय। जाहिर है कि दलित साहत्यिकार सौन्दर्य से परहेज नहीं करता, मगर सौन्दर्य का कोई एक खास रूप या परिभाषा नहीं है। क्योंकि अपने तन–बदन का सौन्दर्य एक दलित को उसके फटे–नुचे चीथड़ों या गंधाती उतरन में दिखाई देता रहा है। अपने घर का सौन्दर्य उसे घास–फूस से बनी झुग्गी–झोपड़ी या ठेठ गारे से बनी कच्ची दीवारों या गोबर से लिपे–पुते आंगन में दिखाई दे रहा है। अपने भोजन का सौन्दर्य उसे नमक पड़ी लपसी और रूखी–सूखी रोटी में दिखाई देता और अपनी संवदेना का सौन्दर्य उसके दुत्कार और धिक्कार में दिखाई देता रहा है।

जिस व्यवस्था में दलित अमानवीय एवं उप–मानवीय स्तर पर जीता था, उसके लिए सामाजिक न्याय और मुक्ति से बढ़कर सौन्दर्यबोध और कुछ नहीं हो सकता। परम्परागत सौन्दर्य–शस्त्र ऐसा है जिसमें साहित्य व कला मानवीय सरोकारो से अलग होकर दीन–दुनिया, दुख–सुख, मौत–जिंदगी से अलग होकर आत्मविभोरता की स्थिति में पहुँच जाते हैं। सौन्दर्य बोध का यह स्हस्यवादी स्तर है। इस सौन्दर्यबोध से दलित साहित्य का कुछ लेना देना नहीं हैं। दलित का कठिन परिस्थितियों में जीवित रहना और श्रम करते रहना–क्या जीवन की कला नहीं है? क्या श्रम का कोई सौन्दर्य नहीं होता? सौन्दर्यशास्त्रीय मुददा जीवन कैसा होना चाहिए से जुड़ा होता है,

---

[42] डा. रामविलास शर्मा – आस्था और सौन्दर्य , पृ. 27

इसलिए मानवीय मूल्य परक होकर लोगों से भी जुड़ा होता है। दलित लेखकों के लिए कला की सारी आनिवार्यताओं का संबंध बस इतने से है कि उनकी बात पाठक या श्रोता तक पहुँच जाय । उनके लिए रचना का अर्थ 'एक्टीवेट' करना है। शरण कुमार लिंबाले के शब्दो में" हम मारे जाएं और जब रोएं या विरोध करें, गुस्सा करें तो शास्त्रीय तरीके से, मुझसे यह अपेक्षा नहीं करनी चाहिए।[43] दलित लेखन के लिए कलात्मकता की अपेक्षा प्रतिबद्धता ज्यादा जरूरी मूल्य है और इसलिए अगर यह कहा जाए प्रतिबुद्धता विहीन कलात्मकता सिर्फ अभिजात्य दर्शन है तो शायद गलत नहीं होगा।

जो साहित्य मूलतः परिवर्तन के लिए लिखा गया हो क्या उससे परिवर्तन की जगह आनंद या सौंदर्य की अपेक्षा करना उचित है? दलित लेखकों का यह मानना है कि उनके साहित्य की समीक्षा समाजशास्त्रीय दृष्टि से होनी चाहिए और समाजशास्त्रीय समीक्षा में सौंदर्य की अपेक्षा सामाजिक मूल्यों की चर्चा अधिक होना लाजमी है। इस परिप्रेक्ष्य में दलित साहित्य की सौंदर्य चर्चा करने का अर्थ है– "दलित लेखकों की मूलभूत भूमिका की उपेक्षा कर उसके साहित्य की चर्चा करना।"[44] इसी कारण दलित लेखक को अपने साहित्य की ऐसी सौंदर्य चर्चा स्वीकार नहीं है दलित लेखकों ने अपने साहित्य की जीवनवादी, यथार्थवादी समीक्षा के साथ–साथ ही दलित साहित्य के अलग सौंदर्य शास्त्र की मांग भी की है। बहुत पहले ही प्रेमचंद ने कहा था। "हमें सुंदरता की कसौटी बदलनी होगी और हमें निश्चय ही विलासिता के मीनार से उतरकर बच्चों वाली काली रूपवती का चित्र खींचना होगा जो बच्चे को खेत के मेड़ पर सुलाकर पसीना बहा रही है।"[45] मुख्य धारा के साहित्यकार इस ओर कभी ध्यान ही नहीं दिए। अब हमें कसौटियां बदलनी होगी उससे सौंदर्य भी बदलेगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि डॉ. रामविलास शर्मा के सौंदर्यशास्त्र की परिभाषा जिसमें लालित्य प्रमुख है, स्वीकार नहीं है। उन्हें तो जीवनवादी और यथार्थवादी सौंदर्य की तलाश है। लेकिन सवर्ण समीक्षकों ने जोर से घोषित किया है कि, दलित साहित्य को अलग सौन्दर्यशास्त्र की जरूरत नहीं है। चिरन्तन मूल्यों के आधार पर दलित साहित्य की समीक्षा की जाएगी। परंतु किसी ने भी पूर्ण दलित साहित्य को गंभीरता पूर्वक मनन कर दलित साहित्य की सौन्दर्यमीमांसा नहीं

---

[43] कयाकम – दलित विशेषांक – 2000, पृ. 92
[44] डा. शरण कुमार लिंबाले – दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृ. 29
[45] ओम प्रकाश वाल्मीकि – दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृ. 48

की। यह हमेशा ध्यान में रखना होगा दलित साहित्य का सौन्दर्य विचार डॉ. अम्बेडकर की सोच का प्रतिफल है और दलित साहित्य का सौंदर्य मूल्य सामाजिक मूल्य है। इसी संदर्भ में डॉ. एन. सिंह दलित साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए लिखते है–" दलित साहित्य का शब्द–सौंदर्य प्रहार में है, सम्मोहन में नहीं। वह समाज और साहित्य में शताब्दियों से चली आ रही सड़ी–गली परम्पराओं पर बेदर्दी से चोट करता है। वह शोषण और अत्याचार के बीच हताश जीवन जीने वाले दलित को लड़ना सिखाता है। वह सिर पर पत्थर ढोने वाली मजदूर महिला को उसके अधिकारों के विषय में बतलाता है। उसे धर्म की भूल–भूलैया से निकालकर शोषण से मुक्ति का मार्ग दिखाता है। उसके लिए जिस शाब्दिक प्रहार क्षमता की आवश्यकता है वह उसमें है और यही दलित साहित्य का शिल्प सौंदर्य है।"[46]

परम्परागत हिन्दी साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र का आधार 'सत्यम् शिवम् –सुंदरम' है। इस आधार पर दलित साहित्य के सौंदर्य शास्त्र को देखने में मूल कठिनाई 'सत्यम्–शिवम्–सुन्दरम्' के फ्रेमवर्क में है। तथापि यह संयोग ही है कि वह उस 'सत्यम'–शिवम्–सुंदरम्' की कसौटी पर भी एक कदम आगे जाकर खरा उतरता है। दलित साहित्य का 'सत्यम्' मुलम्मा चढ़ा भ्रामक सत्य न होकर विशुद्ध सत्य है। वह सत्यम् को सत्य बनाए रखने की हार्दिक चेष्टा करता है। लेकिन हिन्दी साहित्य में 'सत्यम्' घोर असत्यम्' है। मूलतः जिस सत्य पर गौरव किया जाता है– सत्यमेव जयते, कहा जाता है। क्या वह सत्य है? यथा– "ब्राहमण की उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख से और शूद्र की ब्रहमा के पैरों से उत्पत्ति हुई है। क्या यह सत्य है? गत जन्म में पाप किया इसलिए इस जन्म में शूद्र का जन्म मिला, क्या यह सत्य है?"[47] यदि यह सत्य होगा तो ही वह शिव होगा, अन्यथा वह अशिव है। हिन्दू धर्मशास्त्र ने दलित मनुष्य के स्पर्श, छाया और वाणी को अस्पृश्य माना है। स्पर्श से मनुष्य ही नहीं ईश्वर भी अपवित्र हो जाता है। यह शिव का कैसा रूप है? कौन सा रूप? शूद्र त्रैवर्णिकों की सेवा करे। उसे सत्ता, संपत्ति, प्रतिष्ठा, और ज्ञान का अधिकार नहीं। ये कैसा शिव है? जब शिव होगा ही नहीं तो सुंदर कैसे हो सकता है? बल्कि वह असुंदर ही होगा। दलित गाँव के बाहर रहे, उनके नाम अमंगल सूचक हों, वे संपत्ति जमा न करे, वे वेद न पढे, संस्कृत न सीखें, क्योंकि इससे शूद्रों को अपने शोषण की जानकारी होगी। वे अगर इस तरह चुपचाप न जिएं तो उनके लिए कठोर सजा का प्रावधान भी किया गया–शंबूक वध, एकलव्य का अंगूठा आदि।

---

[46] डा. एन. सिंह (स) – शिखर की ओर, पृ. 353
[47] शरण कुमार लिबले – दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृ. 30

क्या यह सुंदर है? सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' में भेदभाव की कल्पनाएं है– "जिसके आधार पर आम आदमी का शोषण हुआ है। दरअसल यह धारणा तो सवर्ण समाज के स्वार्थ–साधन के लिए रची गई साजिश है। उसकी व्याख्या बदलने की जरूरत है। दलित साहित्य यही कर रहा है। शरण कुमार लिंबाले इस प्रसंग में लिखते है। मनुष्य सर्वप्रथम मनुष्य है। यही सत्य है। मनुष्य की स्वतंत्रता ही शिव है और मनुष्य की मनुष्यता ही सौंदर्य है।.... विश्व में मनुष्य जैसी सत्य और सुंदर दूसरी कोई चीज नहीं है। इसीलिए तो मनुष्य की समता स्वतंत्रता, न्याय और बंधुत्व की चर्चा होनी आवश्य है।"[48]

हिन्दी साहित्य में साहित्य का सौंदर्य व उसकी अर्थवत्ता सत्यम्–शिवम्–सुंदरम् की कसौटी पर कसकर ही निर्धारित की जाती है। परंतु उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर हिन्दी साहित्य का लगभग संपूर्ण साहित्य ही साहित्य की कोटि से खारिज हो जाता है। आध्यात्मिकता, सौंदर्य , प्रेम व वासना के रास रंग से बोझिल हिन्दी साहित्य का सामाजिक सरोकारों से कोई दूर का भी संबंध नहीं रहा है। वैयक्तिक सरोकारों से जुड़कर ही साहित्य सर्जना हुई है। स्वान्तः सुखाय की भारी भरकम शब्दावली के नीचे जनमानस की कथा व आग को दबा दिया गया है। लेकिन इससे हटकर दलित साहित्य की नियति है कि सब कमजोर आदमी भी मजबूत आदमी बन जाए, सब तथाकथित नीच आदमी ऊँच बन जाए, विषमता के शिकार हुए सभी आदमी समता के धरातल पर आकर खड़े हो जाए और सब मिलकर नए सिरे से मजबूत समाज, राष्ट्र, देश का निर्माण करें।

दलित साहित्य के स्वरूप, उसके परिप्रेक्ष्य व संदर्भो के संबंध में अब अधिक तर्क–वितर्क की संभावनाएं नहीं है। दलित साहित्य अब कोई अजूबा नाम नहीं है अपितु नवयुग का एक व्यापक, वैज्ञानिक व यथार्थपरक संवेदनशील साहित्यिक हस्तक्षेप है, जो तर्क संगत, वैज्ञानिक परम्पराओं और पूर्वाग्रहों से मुक्त साहित्यिक सृजन है। दलित साहित्य सृजन में चेतना की अपरिहार्यता व उपयोगिता आवश्यक नहीं, अपरिहार्य है। उसमें दलित अस्मिता व अस्तित्व का संघर्ष शब्दों के माध्यम से आकार पाता है। दलित साहित्य के सौंदर्यशास्त्र का रूप–विधान, उसका सीमांकन व आकलन सामान्य सौंदर्य दृष्टि से संभव ही नहीं है। दलित साहित्य परम्परागत कलात्मकता से इतर अनगढ व अटपटे शब्दों में सामाजिक अन्याय के विरूद्ध आक्रोश, सामाजिक परिवर्तन का आह्वान, उत्पीड़न व शोषण के विरूद्ध विद्रोह का साहित्य है। उसका सौंदर्य वहीं

---

[48] शरण कुमार लिबले – दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृ. 32

निखरता है जहां सदियों का संताप जो दलितों ने सहे हैं, यथार्थ, अभिव्यक्ति पाता है। दलित साहित्य के सौंदर्य में काल्पनिक–रोमांटिक रंगीनियाँ नहीं अपितु घटनाओं का खुरदरापन अपने यथार्थ रूप में प्रस्फुटित हुआ है।

दलित कथा साहित्य का सर्जक सामाजिक सरोकारों से जुड़कर जीवन के लिए निर्मित कृत्रिम उपादानों तथा मानव–मानव के मध्य के निर्मित अंतराल को भापने का प्रयास करता है। प्रकृति उसे नए रूप में दिखती है। "उसे चांद नायिका के मुख सदृश नहीं अपितु भूख से बिलबिलाते व्यक्ति की रोटी सदृश्य दिखाई देता है। वह सूरज को देवता नहीं अपितु समता क्रांति का प्रखर प्रहरी मानकर चित्रण करता है जिसकी किरणें सभी को एक सा प्रकाश देने का प्रयास करती हैं। कभी–कभी सूरज को भी शोषक के रूप में संबोधित कर अपनी भड़ास निकालता है, क्योंकि सूरज की रोशनी बेघरों को व्यथित करती है।"[49]

दलित साहित्य में नारी रूप की दीप्ति, सुकुमारता, कोमलता, बड़ी–बड़ी आंखों अथवा लाल–लाल गालों से नहीं निखरती बल्कि श्रम से निःसृत स्वेदकण ही उसके सौंदर्य का निर्धारण करते है। दलित साहित्य की सौन्दर्यवृत्ति भावगत की अपेक्षा कर्मगत पहलुओं के प्रति अधिक एकनिष्ठ व सजग है–

"कभी सोचा क्या?

आपने–

उन पौधों के बारे में,

जिनके नीचे की जमीन ही

छीन ली गई।

पर वह वृक्षों से रहा न गया,

विकास पौधों का उनसे सहा न गया,

---

[49] डा. एन. सिंह (स) – शिखर की ओर, पृ. 355

और दबा दिया गया उन्हें

काली परछाई तले।"[50] – सी. बी. भारती

पण्डित जगन्नाथ की मान्यता 'वाक्य रसात्मक काव्यं", अर्थात वाणी ही रसात्मकता ही काव्य है फिर भी दलित साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र की रूपरेखा से कोसों दूर है। इस संबंध में ओमप्रकाश वाल्मीकि का कथन है कि 'ललित साहित्य या पारम्परिक साहित्य का मूल प्रयोजन क्या हैं– 'आनंद' के लिए रसोत्पत्ति। यह आनंद रस क्षणिक होता है जिसे दलित साहित्य स्वीकार नहीं करता। एक दलित जिस उत्पीड़न को भोगकर दुख, वेदना से साक्षात्कार करता है, वह आनंददायक कैसे हो सकता है? दलित साहित्य आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति करता है.... अर्थ गाम्भीर्य दलितों का स्वीकृत जीवन मूल्य है, जिस पर दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र टीका है।"[51] दलित साहित्य का सौंदर्य शास्त्र महान यूनानी विचारक सुकरात के इन विचारों का अनुगामी है"' गोबर से भरी टोकरी भी सुंदर बन जाती है, यदि वह अपना कुछ उपयोग रखती है। जबकि सुवर्णढाल भी असुंदर है, यदि वह उपयोग की दृष्टि से अपूर्ण है!"[52] आइ.ए.रिचर्ड की मान्यता है कि 'भावनात्मक संतुष्टि का नाम सौंदर्य है।"[53] ये मान्यताएं दलित साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र को एक आधार प्रदान करती हैं। पाठक अथवा श्रोता को भावात्मक संतुष्टि उन्हीं भावों से होगी जो उसके जीवन के सच को अभिव्यक्ति प्रदान करते हों।

प्रकृति के सभी उपादान दलित साहित्य का विषय है– फूल हो या फिर काँटे ही क्यों न हो? विषय क्षेत्र अत्यंत व्यापक है। इसकी संर्जक व्यवस्था का भुक्त–भोगी वहीं आम आदमी है जिसने स्वयं ही शोषण एवं यत्रणा को सहा है। दलित साहित्य ने अपनी सजीव संवदेनाओं को अभिव्यक्ति की एक पृथक स्वतंत्र शैली विकसित कर ली है। इसमें बनावटी व कृत्रिम भाषा से परहेज है व अलंकरण की भी खास जरूरत नहीं हैं।

दलित साहित्य का सौंन्दर्यशास्त्र साहित्यिकता का मोहताज नहीं है, अपितु उसकी जीवनदायनी शक्ति है–घटनाओं की जीवन्तता व उसकी प्रामाणिकता तथा इसका प्रयोजन है–

---

[50] डा. एन. सिंह (सं) – शिखर की ओर, पृ. 356
[51] ओमप्रकाश वाल्मीकि – दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र, पृ. 50
[52] डा. राम विलास शर्मा – आस्था और सौन्दर्य, पृ. 29
[53] वही, पृ. 30

दलित चेतना व सामाजिक न्याय की भावना का निरंतर विकास। दलित पीड़ा की सफल अभिव्यक्ति प्रदान कर दलित साहित्य ने अपने सौन्दर्यशास्त्र की सार्थकता को प्रमाणित कर दिया है। फिर भी दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र का रूप निश्चित नहीं हो पाया है। यह अपने प्रारंभिक अवस्था में है। डॉ. मैनेजर पाण्डेय का कहना है–"कोई भी सौन्दर्यशास्त्र एक दिन में नहीं बनता। प्रतिरोध और विकल्प का सौंदर्यशास्त्र तो और भी नहीं। वैसे तो हिन्दी में कोई विकसित सौन्दर्यशास्त्र नहीं है, लेकिन जो है उसके पीछे एक ओर संस्कृत के काव्यशास्त्र की लंबी परंपरा है तो दूसरी ओर पश्चिम के सौन्दर्यशास्त्र का प्रभाण। स्वंय पश्चिम में सौदर्यशास्त्र कई सदियों में विकसित हुआ है। जो लोग कहते हैं कि सौन्दर्यशास्त्र का जाति, वर्ग और विचारधारा से क्या लेना–देना, वे या तो बेवकूफ है या बदमाश। सौन्दर्यशास्त्र कला की अलौकिक अनुभूति नहीं है। वह कलात्मक सौंदर्य के बोध और मूल्यों का शास्त्र है, और बोध की प्रकिया तथा मूल्यों के निर्माण में जाति, वर्ग और लिंग से जुड़ी विचारधाराओं की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। .... इसीलिए दलित सौंदर्यशास्त्र का विकास दलित समाज, उसकी चेतना, संस्कृति, विचारधारा और दलित सौन्दर्यशास्त्र के विकास पर निर्भर है जो एक लंबी प्रकिया में होगा।[54]

---

[54] ओमप्रकाश वाल्मीकि – दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र, पृ. 52

उपसंहार

भारतीय समाज का गठन जिस सामाजिक आधार पर हुआ है वह अन्याय पूर्ण व शोषण परक समाज की देन है। जाति व्यवस्था पूरी तरह कल्पित है पर सामाजिक यथार्थ की कठोर वास्तविकता है जिसे मनु ने दैवीय बना दिया। ब्राहमण बौद्ध संघर्ष के फलस्वरुप एक नया वर्ण अस्तित्व में आया। जिसे मनु की व्यवस्था के अन्तर्गत अस्पृश्य घोषित कर सभी मानवीय अधिकारों से वंचित कर दिया गया। यहां तक की उसकी परछाई से भी से परहेज किया जाने लगा अर्थात इस समाज में इस वर्ग के प्रति घृणा का पलड़ा भारी से भारी होता गया। इन्हें अतिशूद्र, अंत्यज, चाण्डाल, अवर्ण, पंचमवर्ण, हरिजन आदि नामें से विहित करके घृणा, हिकारत, निरीहता और दया का पात्र बना दिया गया था, वही आज प्रखर आत्मबोध के साथ इन सारी शब्दवालियों को ठुकराकर स्वयं 'दलित' के रूप अपनी अस्मिता का बोध सभी स्तरों पर करा रहा है। अस्पृश्यता को अपने ऊपर कलंक मानकर दूर करने के लिए संघर्ष कर रहा है। 'दलित' स्वयं द्वारा चुना हुआ (शब्द) नाम है जिसमें परम्परागत हिन्दू समाज व्यवस्था का नकार और इस व्यवस्था में।उत्पीड़ित वर्ग की दशा को व्यंजित करता है। यह शब्द उनकी पूरी स्थिति को ही नहीं बल्कि संघर्ष की प्रेरणा देता है।

इस समुदाय को पग – पग पर अपमान व पीड़ा का जहर जीना पड़ता है क्योंकि उनकी सामाजिक स्थिति का स्वरूप ही वैसा है। इस व्यवस्था में कोई भी अपनी सामाजिक स्थिति नहीं बदल सकता क्योंकि वह अपनी जाति नहीं बदल सकता। नवजागरण हुआ – स्थिति में कोई बदलाव नहीं आया। क्योंकि यह नवजागरण न होकर मात्र 'हिन्दू जागरण' ही रहा। जाति व्यवस्था की आलोचना तो सभी समाज सुधारक करते हैं परंतु किसी ने इसके खिलाफ आंदोलन नही चलाया। जातिवाद और छुआ–छूत की अपेक्षा सामाजिक कुरीतियों को दूर करना चाहते थे। हमारी तो परम्परा रही है शब्दों के प्रचलित अर्थ को अपनी सुविधा अनुसार प्रयोग करने की। हमारा नवजागरण तो यह था कि पुनः वेदो की ओर चलो तथा वेद शाश्वत, परम पवित्र, अनादि, अनंत और संदेहतीत है, जिसने हिन्दू समाज को जड़ बना दिया। हम तो पीछे चलने वाले हैं – राम राज्य की बात करते हैं। हिन्दी क्षेत्र इस जागरण से सबसे ज्यादा प्रभावित हुआ। अतीत और वेद ही प्रेरणा स्त्रोत रहे वे भारतीय संस्कृति को पुनर्जिवित करना चाहते थे। उनका दलितोद्धार मात्र एक प्रतिक्रिया थी। धार्मिक दृष्टिकोण छोड़े बिना यहां जन आंदोलन होता है। सारी ऊर्जा पुराने

धर्म को नए समाज की आवश्यकताओं कमोवेस अनुकूल बनाने में व्यर्थ कर देते हैं वैज्ञानिक आविष्कारों को वेद – पुराण में खोज कर अपनी वैज्ञानिकता सिद्ध कर देते हैं।

हिन्दी क्षेत्र दकियानुसी विचारों का गढ़ रहा है। यहां कोई आंदोलन नहीं हुआ। इसलिए आन्दोलन के अभाव में इस क्षेत्र का जागरण लेखकों का दायित्व बन गया। परन्तु इन लेखकों में 'राष्ट्रीय चेतना' और स्वत्व ही प्रमुख रहा। दलित प्रश्न यहां भी गायब ही रहा। यह जागरण मुख्यतः साहित्यिक था। सामाजिक अवस्था के अनुरूप ही साहित्य होता है लेखक अधिकांशतः उपदेशक की भाँति सामने आए, जिनमें दलितों के प्रति दया और सहानुभूति तो दिखाई देती है परन्तु दलित संवेदना का विद्रोही स्वर नहीं दिखता। इस युग के लेखक सनातनधर्मी और परम्परा पोषक है। यही उनकी मर्यादा है जिसके तहत जातिवाद और धार्मिक जड़ता का विरोध करते हैं। बुद्ध, कबीर, रैदास, मीराबाई की भूमि पर दलित प्रश्न गायब ही रहा। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के यहां दलित बहिष्कृत ही रहे। इस क्षेत्र में समाज सुधारकों द्वारा नहीं बल्कि लेखकों द्वारा समाज सुधार कार्यक्रम चलाया गया। ले देकर प्रेमचन्द ही इनते बड़े क्षेत्र में नजर आते हैं। वे ही दलित प्रश्न को गंभीरता से उठाते हैं उनके अनुसार 'राष्टीयता की पहली शर्त वर्ण व्यवस्था, ऊँच – नीच के भेद – भाव और धार्मिक पाखण्ड की जड़ खोदना हैं'। प्रेमचन्द से पूर्व हिन्दी में उपन्यास के उदय के समय से ही दलित समस्या गायब ही रही। अगर किसी में दलित आया तो वह मनोरंजन या फिर गुलाम के रूप में चित्रित हुआ। अर्थात जिस तरह वह सदियों से समाज, धर्म, राजनीति में अस्पृश्य रहा वैसे ही साहित्य में भी बहिष्कृत ही रहा। प्रेमचन्द की परम्परा– छिटपुट बिखरी हुई मिल भी जायेगी परन्तु हीराडोम की परम्परा हिन्दू समाज के गर्त में डूबो दी गई। हिन्दी लेखकों में दलित कथानकों का अभाव रहा। क्योंकि उनका हित 'अछूत के अछूत बने रहने में ही था।

प्रेमचन्द युग ही नहीं बल्कि आज तक के लेखकों की यह सबसे बड़ी विडम्बना रही कि वे मात्र महात्मा गाँधी से ही प्रभावित होकर साहित्य, समाज और राजनीति में दलित समस्या को उठाते हैं। फुले, डा. अम्बेडकर, पेरियार आदि दलित चितंक इन बुद्धिजीवियों को प्रभावित नहीं कर सके। उनकी इसी बौद्धिकता के कारण दलित दृष्टिकोण सुधारवादी और नियतिवादी ही रहा। अपनी रूढिवादिता और वर्णचेतना में हिन्दी साहित्य समाज अन्य प्रदेशों से दो कदम आगे रहा। यहां तो कबीर जैसे क्रांतिकारी को भददे, अश्लील और फूहड़ गीतों से जोड़कर उनकी धार को कुंद करने का प्रयास किया गया।

हिन्दी क्षेत्र में दलित आत्मचेतना अंबेडकर, फुले के क्रांतिकारी विचारों के फलस्वरुप विकसित हुई। हीराडोम ईश्वर की सत्ता को चुनौती देता है। अछूतानन्द सभी स्तरों पर दलित–चेतना को जागृत करने के लिए संघर्ष कर रह थे।

हिन्दी में ले–देकर प्रेमचन्द ही दलित समसयाओं के प्रति जागरुक दिखाई देते हैं। उनके यहां दलित समग्ररुप में चित्रित रुप में चित्रित हुआ है। उनमें कोरी सहानुभूति ही नहीं है, बल्कि समाज पर व्यंग भी है। इसके बावजूद प्रेमचन्द की दृष्टि संकुचित और गाँधीवादी है। क्योंकि उनके पात्र हिन्दू समाज व्यवस्था के विरोध में खड़ा नही होते बल्कि धीसू माधव ही बने रहते हैं। अर्थात् प्रेमचन्द पर भी वर्णाश्रम व्यवस्था का दबाव था। वे 'गोदान' में अछूत बनाम छूत के संघर्ष को केन्द्र में प्रतिष्ठित नहीं करना चहाते थे। वे तो मात्र यह दिखाना चाहते थे कि अगर सवर्ण जातियों का सामंती रवैया नहीं बदलेगा तो उन्हें इस तरह के उग्र और संगठित विद्रोह का सामना करना पड़ सकता है। ऐसा लगता है कि प्रेमचन्द का चिंतन हिन्दू धर्म पर आधारित था। वे हिन्दू सामाजिक व्यवस्था की सीमा को लांध नहीं पाए।

प्रेमचन्द ही नहीं अन्य हिन्दी लेखकों में दलितों का चित्रण मसीहाई अंदाज में किया गया है। अर्थात् इन लेखकों द्वारा दलित मन की अभिव्यक्ति का प्रयास कृत्रिम और भावुक है दलितों की दीन–हीन दशा और शोषण को नियति क्या विधाता की देन के रुप में चित्रित किया जाता है दलित पात्र सवर्णों के निमित हैं न कि समाज के निमित।

गाँधी जी का विजन था कि दलित समस्या को स्वतंत्रता के बाद उठाया जायेगा , परन्तु हस्र क्या हुआ? स्वतंत्रता के बाद साहित्य, समाज और राजनीति से 'दलित' नदारद हो गए। संविधान में अस्पृश्यता समाप्त कर दी गई और सबको समान अवसर और समानता का अधिकार प्रदान किया गया। हमने अपने– अपने कर्त्तव्यों से मुक्ति पाली? प्रेमचन्द की परम्परा को अस्सी के दशक में कुछ लेखकों ने निर्वाह किया। स्वतंत्रता के सपनो और दलित आकांक्षा को समग्र रूप से सामने लाते हैं। इन लेखकों ने अलग–अलग जातियों को केन्द्र में रखकर उनकी समस्याओं को चित्रित किया। लेकिन सबके केन्द्र में सामंती शोषण की भावना रही है इस दशक के लेखक भी गाँधी जी के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सके। इनमें भी वैचारिक अर्न्तद्वन्द्व और पूर्वाग्रह बना रहा। इसलिए इनके साहित्य में भी दलित चेतना का अभाव ही रहा। दलित पात्रों का स्वाभावित विकास नहीं होने दिया जाता है ऐसे में लेखकीय ईमानदारी का निर्वाह नहीं हो सकता है। अमृत लाल

नागर 'नाच्यौ बहुत गोपाल' मे भंगी जाति का चित्रण करने में अपनी ब्राहमणवादी दृष्टि नही छोड़ पाये हैं। उपन्यास की नायिका निर्गुनिया हनुमान/ठाकुर की मूर्ति देखते ही संस्कृत का श्लोक पढ़ने लगती है। इसके पीछे नागर जी के संस्कार काम कर रहे थे।

गिरिराज किशोर के उपन्यास 'परिशिष्ट' और 'यथा प्रस्तावित', विषय और वस्तु कौशल की दृष्टि से एक दम नये उपन्यास हैं जिसमें लेखक ने बौद्धिक बिरादरी में दलितों की स्थिति को बडी बारीकी से चित्रित किया। 'परिशिष्ट' की मेन थीम 'दलित विद्यार्थी को विद्यार्थी की सहज हैसियत का न मिल पाना है। इनमें छात्र ही नहीं बल्कि संस्थान और तथाकथितक बौद्धिक वर्ग की भूमिका भी महत्वपूर्ण है। भारतीय समाज व्यवस्था से हर कोई प्रभावित है चाहे वह सरकारी दफ्तर हो या फिर शिक्षा संस्थान ही क्यों न हो ?

इन उपन्यासें में लेखकों ने दलित समस्यों को समग्रता में चित्रित किया है। गाँधी के आदर्श गाँवों में दलित की अकल्पनी स्थिति बनी हुई है। धर्म परिवर्तन लेखकों की दृष्टि में समस्य का हल नहीं है। तो क्या यह हिन्दू धर्म में बनाए रखने की चाल है। धर्मपरिवर्तन से कुछ मिले या न मिले परन्तु शिक्षा का अधिकार तो मिल ही जाता है जो मुक्ति का साधन है। लेखकों पर गाँधीवादी दृष्टि हांकी है। वे इस फ्रेम को तोड़ नही सके हैं गाँधी की तरह मंदिर प्रवेश को ही दलित समस्या का हल मान लेते हैं। बाकि सारी समस्याऐ मंदिर प्रवेश आंदोलन के सामने तुच्छ हो जाती है।

अस्सी के दशक के एक भी उपन्यास दलित आंदोलन या संघर्ष से प्रभावति होकर लिखे गए है, ऐसा नहीं लगता। फुले, अंबेडकर, पेरियार इनको प्रभावति नहीं करते क्योंकि वे समानता की बात करते थे। ऐसे में न दलित चेतना विकसित हो सकती है और न ही पात्रों का स्वाभाविक विकास हो पायेगा। इसीलिए काली जैसा ऊर्जावान दलित पात्र प्रेम में फंसकर पलायन कर जाता है तथा रामउजागर जैसा विद्रोही पागल बना दिया जाता है। बस इन लेखकों की उपलब्धि दलित शोषण के चित्रण की रही है।

स्वातंत्रयोत्तर हिन्दी उपन्यासकारों ने दलित समस्या को सामंती शोषण की दृष्टि से चित्रित किया है। इन्होंने धार्मिक – सांस्कृतिक शोषण की तरफ ध्यान ही नहीं दिया। जबकि मुझे लगता है कि दलित समस्या के केन्द्र में 'धार्मिक – सांस्कृतिक शोषण ही जिम्मेदार है। क्योंकि जाति व्यवस्था सामाजिक कम धार्मिक अधिक है। आज भी एक हिन्दू जाति व्यवस्था को दैवीयी मानता

है। वह इससे अलग सोच भी नहीं सकता। राष्ट्रपिता गाँधी के दृष्टिकोण में भी कहीं न कहीं यही बात थी। तभी तो वे जातिव्यवस्था और वर्णव्यवस्था को बनाए रखने की वकालत करते रहे। धार्मिक पाखण्ड और अधंविश्वासों का चित्रण लेखकों ने दलित नियति के रूप में किया है। दलित अपनी स्थिति को दैवीय और नियति मानकर स्वीकार कर लेते रहे। उनकी यह सोच होती है कि उनकी जो गति है वह पूर्व जन्मों का फल है इससे उनमें वैज्ञानिक सोच विकसित नहीं हो पाती है और वे शोषण के दल दल से निकलने के बजाय उसमें फंसते ही चले जाते हैं। इसलिए विद्रोह की चेतना इनमें नहीं पायी जाती है जो दलित साहित्य की मूल अभिव्यक्ति है। अशिक्षा के कारण आज भी उनमें अधंविश्वासों का गढ़ बना हुआ है यह टूटने के बजाय बढ़ ही रहा है। क्योंकि आज दलितों में पूजा पाठ की होड़ लगी हुई है। उसी को एम एन श्रीनिवास ने सांस्कृतकिरण कहा है। अर्थात आज दलित ब्राह्मणवादी संस्कृति के तत्वों को स्वीकार करते हुए अपने ही वर्ग या जाति से अपने को सांस्कृतिक रूप से अलग करने लगा है। लेकिन सांस्कृतिकिरण दलितों का नहीं बल्कि ब्राहमणों का हुआ क्योंकि दलित संस्कृति के प्रगतिवादी तत्वों विधवा विवाह, सती प्रथा को न मानना, शरीरिक श्रम की संस्कृति आदि को नवजागरण के समय अपनाया गया। अतः सांस्कृतिकरण एक प्रक्रिया प्रतीत होती है जो चलती रहती है।

प्रेमचन्द की क्षीण पड़ गई परम्परा को अस्सी के दशक में बढाने वाले लेखकों में स्वतंत्रता के बाद के बदले हुए दृष्टिकोण का अभाव खलता है। इनको मराठी दलित साहित्य, ब्लैक साहित्य, और पाश्चात्य वैज्ञानिक विचारधारा प्रभावित न कर सकी। लेखकीय पूर्वाग्रह बना रहा। क्योंकि उनका जीवन मूल्य संस्कार पर आधारित है न कि शिक्षा पर। ऐसे में दलित साहित्य का उदय हिन्दी साहित्य का पूनर्जागरण कहा जा सकता है। आज हिन्दी दलित साहित्य सभी विधाओं में लिखा जा रहा है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जहां अपने दलित चेतना को विकसित किया वहीं हिन्दी के साहित्यकारों को नई दृष्टि से सोचने पर मजबूर कर दिया है। जो लोग पहले दलित साहित्य के नाम पर नाक – भौं सिकोडते थे, आज वे गर्व से दलित साहित्य की वकालत करते है। दलित साहित्य परम्परागत सौन्दर्यशास्त्र को नकारते हुए दलित सौन्दर्यशास्त्र के निर्माण की ओर अग्रसर है। यह ही सही अर्थो में 'सत्यम् – शिवम् – सुन्दरम्' का सौन्दर्यशास्त्र है। परम्परा का मूल्यांकन स्वयं दलित कर रहा है तभी तो कल के नायक आज के खलनायक हो गए हैं। ईश्वरवाद, अवतारवाद, आत्मवाद को नकार दलित नायकों के विचारों और प्रेरणा को आने वाली पीढ़ी के लिए सुरक्षित करना चाहते है। वे पुराने मिथकों में नए अर्थ देख रहें तथा नये

मिथक भी गढ़ रहे हैं तभी तो चाँद नायिका के मुख सदृश्य नहीं अपितु भूख से बिलबिलाते व्यक्ति की रोटी के रुप में नजर आता है।

अंततः बौद्धिकता लेखकीय ईमानदारी और पूर्वाग्रह के अभाव में बेमानी है। इसके अभाव में हम देश और समाज को मजबूत नहीं कर पायेंगे और विकास की दौड़ में पिछड़ते ही जायेंगे।

***

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. अमृत लाल नागर – नाच्यौ बहुत गोपाल
राजपाल एण्ड संस, दिल्ली – 1979

2. अमृत राय (सं) – प्रेमचन्द की प्रतिनिधि कहानियां
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली – 1994

3. आनन्द वास्कर – हिन्दी साहित्य में दलित चेतना
विद्या बिहार , कानपुर – 1986

4 डा. अम्बेडकर – अम्बेडकर सम्पूर्ण वांड्.मय
अम्बेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली – 1998

5. आयन वाट – उपन्यास का उदय
हरियाणा ग्रंथ अकादमी चण्डीगढ़ – 1994

6. आर. एल. शुक्ल – आधुनिक भारत का इतिहास
हिन्दी माध्यम कार्यान्व निदेशालय, दिल्ली – 1998

7. आचार्य चतुरसेन – उदयास्त
राजपाल एण्ड संस, दिल्ली – 1963

8. आचार्य चतुरसेन – गोली
राजपाल एण्ड संस, दिल्ली – 1957

9. आचार्य रजनीश – नई क्रांति की रूप रेखा
डायमण्ड पाकेट बुक्स (प्रा.) लि. दिल्ली – 1998

10 ओम प्रकाश वाल्मीकि – जूठन
राधा कृष्ण प्रकाशन, दिल्ली – 1999

11 ओम प्रकाश वाल्मीकि – सलाम
राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली – 2001

12. ओम प्रकाश वाल्मीकि – दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र
राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली – 2001

13. डा. आरिग पूडि – अभिशाप
निधि प्रकाशन, दिल्ली – 1981

14. डा. आरिग पूडि – नदी का शोर
हिन्दी साहित्य भण्डार, लखनऊ – 1995

15. आर. एम. एस. विजयी – सैनिक का खून
आकांक्षा प्रकाशन, दिल्ली – 1994

16. डा. एन. सिह (सं.) – शिखर की ओर
माता प्रसाद अभिनंदन ग्रंथ समिति, दिल्ली – 1995

17. डा. एन. सिह (सं.) – यातना की परछाइयाँ
नव लेखन प्रकाशन, हजारीबाग – 1998

18. एम. एल. गुप्ता/डी. डी. शर्मा – समाजशास्त्र
साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा – 2000

19. एम. एन. श्रीनिवास – आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली – 1986

20. ए. एल. बाशम – अद्भुत भारत
(अनु. वेंकटेश चन्द्र पाण्डेय) – शिवलाल अग्रवाल एण्ड कंपनी, आगरा – 1993

21. एच. एल. दुसाद – आदि भारत मुक्ति बहुजन समाज
राजधानी बुक सर्विस, दिल्ली – 2001

22. ईश्वरी प्रसाद – शूद्र राजनीति का भविष्य
ग्रामीण साहित्य माला, दिल्ली – 1999

23. उदयशंकर भट्ट – सागर लहरें और मनुष्य
संजीवनी प्रकाशन, नई दिल्ली – 1955

24. कुँवर पाल सिंह – हिन्दी उपन्यासः सामाजिक चेतना
पाण्डुलिपि प्रकाशन, दिल्ली – 1976

25. किशोरी लाल गोस्वामी – त्रिवेणी वा सौभाग्य

26. डा. कुसुम वियोगी (सं.) – समकालीन दलित कहानियाँ
ललित प्रकाशन, जयपुर – 1997

27. कुसुम मेघवाल – हिन्दी उपन्यास में दलित वर्ग
संघी प्रकाशन, जयपुर – 1989

28. कौशल्या बैसेंत्री – दोहरा अभिशाप
परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली – 1999

29. कांतिमोहन – प्रेमचन्द और अछूत समस्या
जन सुलभ साहित्य, दिल्ली – 1982

30. गोपाल उपाध्याय – एक टुकड़ा इतिहास
सामयिक प्रकाशन, दिल्ली – 1975

31. गिरिराज किशोर – यथा प्रस्तावित
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली – 1982

32. गिरिराज किशोर – परिशिष्ट
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली – 1984

33. जय प्रकाश कदर्म – छप्पर
संगीता प्रकाशन, दिल्ली – 1994

34. जय प्रकाश कदर्म – करूणा
भारत सावित्री प्रकाशन, मेरठ – 1986

35. जय प्रकाश कदर्म (सं.) – ज्योतिबा फुलेः गुलामगीरी
संगीता प्रकाशन, दिल्ली – 1998

36. जय प्रकाश कदर्म (सं.) – दलित साहित्य वार्षिकी– 1999, 2000, 2001, 2002
अतिश प्रकाशन, दिल्ली

37. जगदीश चन्द्र – धरती धन न अपना
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली – 1997

38. जय प्रकाश कदर्म – नरक कुण्ड में बास
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली – 1994

39. जगदीश चतुर्वेदी – स्त्रीवादी साहित्य विमर्श
अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली– 2000

40. दयानन्द सरस्वती – ऋगवेद (हिन्दी भाष्य) भाग – 5
सार्वदशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली – 1976

41. देवदत्त शर्मा – हिन्दी के सामंती चेतना परक उपन्यास
विवेक पब्लिशिंग हाउस, जयपुर – 1980

42. दामोदर सदन – नदी के मोड़ पर
पराग प्रकाशन, दिल्ली – 1979

43. धनंजय कीर – डा. बाबा साहब अम्बेडकर जीवन चरित्र
(अनु. गजानन्द सुर्वे) – पापुलर प्रकाशन, नई दिल्ली – 1996

44. डा. धर्मवीर – गुरू रविदास
समता प्रकाशन, दिल्ली – 1998

45. नरेन्द्र सिंह – दलितों के रूपान्तरण की प्रकिया
राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली – 1993

46. डा. पुरुषोत्तम अग्रवाल – संस्कृति, वर्चस्व और प्रतिरोध
राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली – 1995

47. डा. पुरूषोत्तम अग्रवाल – तीसरा रूख
वाणी प्रकाशन, दिल्ली – 1996

48. डा. पुरूषोत्तम अग्रवाल – दलित साहित्य और सामाजिक न्याय
कंचन प्रकाशन, दिल्ली – 1996

49. प्रेमचन्द – गोदान
भारती भाषा प्रकाशन, दिल्ली – 1995

50. प्रेमचन्द – कर्मभूमि
सरस्वती प्रेस, बनारस – 1932

51. प्रेमचन्द – रंगभूमि
गंगा ग्रंथ सागर लखनऊ – 1924

52. प्रेमचन्द – प्रेमाश्रम
राजहंस प्रकाशन, इलहाबाद – 1922

53. प्रेमचन्द – मानसरोवर – भाग – 1
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली – 1997

54. पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' – मनुष्यानंद
मिर्जापुर – 1927

55. प्रेम कपाड़िया – मिट्टी की सौगंध
इण्डियन सोशल इंस्टीट्यूट प्रकाशन, दिल्ली – 1985

56. फणीश्वर नाथ रेणु – मैला आँचल
राजकमल प्रकाशन , दिल्ली – 2000

57. ब्रजनंदन सहाय – अरण्यबाला

58. बिपिन चन्द्र – भारत का स्वतंत्रता संघर्ष
हिन्दी माध्यम कार्यान्व निदेशालय, दिल्ली – 1995

59. बी. एल. ग्रोवर / यशपाल – आधुनिक भारत का इतिहास
एस. चन्द एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली – 1993

60. भगवती चरण वर्मा – भूले बिसरे चित्र
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली – 1968

61. भगवती चरण वर्मा – सीधी सच्ची बातें
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली – 1968

62. मोहनदास नैमिशराय – अपने – अपने पिंजरे
वाणी प्रकाशन, दिल्ली – 1995

63. मोहनदास नैमिशराय – आवाजें
समता प्रकाशन, दिल्ली – 1998

64. मोहनदास नैमिशराय – मुक्तिपर्व
अनुराग प्रकाशन, दिल्ली – 1999

65 मन्नू भण्डारी – महाभोज
राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली – 1999

66. महात्मा गाँधी – सम्पूर्ण वाड्.मय
प्रकाशन विभाग, भारत सरकार नई दिल्ली – 1964

67. मधुकर सिंह – सबसे बड़ा छल
राजपाल एण्ड संस दिल्ली – 1975

68. यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' – पत्थर के आँसू
सन्मार्ग प्रकाशन दिल्ली – 1979

69. रामविलास शर्मा – भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएं
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली – 1989

70. रामविलास शर्मा – महावीर प्रसार द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली – 1977

71. रामविलास शर्मा – भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली – 1985

72. रामविलास शर्मा – आस्था और सौन्दर्य
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली – 1999

73. रामशरण शर्मा – प्राचीन भारत
एन. सी. ई. आर. टी. दिल्ली – 1999

74. रामशरण शर्मा – शूद्रों का प्राचीन इतिहास
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली – 1979

75. रैल्फ फॉक्स – उपन्यास और लोक जीवन
पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली 1957

76. राज किशोर (सं.) – हरिजन से दलित
वाणी प्रकाशन, दिल्ली – 1995

77. रमणिका गुप्ता (सं.) – दलित चेतना सोच
नवलेखन प्रकाशन, हजारीबाग – 1998

78. रमणिका गुप्ता (सं.) – दूसरी दुनिया का यथार्थ
नवलेखने प्रकाशन हजारी बाग – 1997

79. रांगेय राघव – कब तक पुकारूँ
राजपाल एण्ड संस, दिल्ली – 1971

80. रमेशचन्द्र शाह – किस्सा गुलाम
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली – 1990

81. रामदरश मिश्र – जल टूटता हुआ
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली – 1969

82. रमणिका गुप्ता – सूखता हुआ तालाब
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली – 1972

83. लाला श्रीनिवास दास – परीक्षा गुरू
दिग्दर्शन एण्ड ऋषभ चन्द जैन एवं संतति, दिल्ली –1974

84. सुरेश सिन्हा – हिन्दी उपन्यास उद्‌भव और विकास
अशोक प्रकाशन, नई दिल्ली – 1965

85. सदानंद साही (सं.) – दलित साहित्य की अवधारण और प्रेमचन्द
प्रेमचन्द साहित्य संस्थान, गोरखपुर – 2000

86. सुषमा धवन – हिन्दी उपन्यास
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली – 1961

87. स. हि. वा. अज्ञेय – शेखर एक जीवनी।
सरस्वती प्रेस, वाराणसी, 1976

88. श्री राम शमा – नदी का मोड़
मेहर चन्द लक्ष्मण दास, दिल्ली – 1964

89. श्यामाचरण दुबे – समय और संस्कृति
वाणी प्रकाशन, दिल्ली – 1996

90. सत्य प्रकाश – जस तस भई सबेर
कामना प्रकाशन, दिल्ली – 1998

91 सूरजपाल चौहान – तिरस्कृत
अनुभव प्रकाशन, दिल्ली – 2002

92. सूरजपाल चौहान – हैरी कब आयेगा
अनुभव प्रकाशन, गाजियाबाद – 2001

93. शरण कुमार लिंबाले (अनु. रमणिका गुप्ता) – दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली – 2000

94. शिव प्रसाद सिह – अलग – अलग वैतरणी
लोक भारती प्रकाशन , इलाहाबाद – 1967

95. हजारी प्रसार द्विवेदी – चारूचन्द लेखा
राजकमल प्रकाशन , दिल्ली 1965

96. हरगोविन्द शास्त्री – मनुस्मृति (हिन्दी टीका)
चौखम्भा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी – 1965

97. ज्ञानचन्द गुप्त – ऑचालिक उपन्यासः सवेदना और शिल्प
अभिनंदन प्रकाशन, दिल्ली – 1975

पत्र – पत्रिकाएं

हंस – हिन्दी मासिक, सं. राजेन्द्र यादव, नई दिल्ली

अंगुत्तर – हिन्दी, वार्षिक, सं. बिमल कीर्ति/के. मेश्राम

दस्तावेज – हिन्दी (त्रैमासिक) , सं. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी

युद्धरत आम आदमी – हिन्दी मासिक, सं. रमणिका गुप्ता, नव
लेखन प्रकाशन, हजारीबाग

आलोचना – हिन्दी (त्रैमासिक), सं. नामवर सिंह

पश्यन्ती – रामशरण जोशी (सं.), नई दिल्ली

हमदलित – प्रेम कपाड़िया (सं), नई दिल्ली

कथा क्रम – मुद्राराक्षस (अति. सं.), नवम्बर 2000, अंक– 6,लखनऊ

आम्ही – नामदेव ढशाल (सं.)

राष्ट्रीय सहारा – हिन्दी दैनिक, दिल्ली

जनसत्ता – हिन्दी दैनिक, दिल्ली

दैनिक हिन्दुस्तान – हिन्दी दैनिक, दिल्ली